निवेदन

यह संग्रह अजमेर के हाईस्कूल तथा इंटरमीडियेट बोर्ड के इच्छानुसार हाईस्कूल की उच्चतम कक्षाओं के लिये किया गया है। इसमें ३६ कवियों की लिखी ४३ कविताएँ उद्धृत हैं। इन सब अंशों का क्रम इस प्रकार रक्खा गया है कि सरलतम अंश आदि में, और कठिनतम अंश अंत में है। साथ ही इस बात का भी ध्यान रक्खा गया है कि कविता के अनेक भावों, रसों तथा वर्ण्य विषयों का जहाँ तक संभव हो समावेश किया जाय, और कहीं कुरुचि न उत्पन्न होने पावे। आशा है, यह संग्रह जिनके लिये तैयार किया गया है, उन्हें उपयोगी सिद्ध होगा।

काशी,
१-१०-३६

श्यामसुंदरदास

हिंदी प्रवेशिका पद्यावली

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
(१) दलित-कुसुम—	रूपनारायण पांडेय	१-२
(२) निदाघ-निदर्शन—	नाथूराम 'शंकर' शर्मा	३-८
(३) उद्बोधन—	मन्नन द्विवेदी	९-१०
(४) किरण—	जयशंकर 'प्रसाद'	११-१२
(५) भारतमाता—	मैथिलीशरण गुप्त	१३-१४
(६) वर्षा-ऋतु में ग्राम्य-दृश्य—	लोचनप्रसाद पांडेय	१५-१६
(७) व्रज वर्णन—	गोपालशरणसिंह	१७-२०
(८) बादल—	सुमित्रानंदन पंत	२१-२३
(९) हृदय—	माखनलाल चतुर्वेदी	२४-२६
(१०) चित्रकूट में श्रीराम—	जयशंकर 'प्रसाद'	२७-२९
(११) मातृ-भाषा—	सुभद्राकुमारी चौहान	३०-३१
(१२) ओस—	गुरुभक्तसिंह	३२-३३
(१३) द्रौपदी-वचन-बाणावली—	महावीरप्रसाद द्विवेदी	३४-३९
(१४) जलद के प्रति—	सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'	४०
(१५) भगवान बुद्ध की हंस रक्षा—	रामचंद्र शुक्ल	४१-४४
(१६) एक फूल की चाह—	सियारामशरण गुप्त	४५-५२
(१७) भारत-महिमा—	जयशंकर 'प्रसाद'	५३-५४
(१८) प्रभात—	अयोध्यासिंह उपाध्याय	५५-५६
(१९) बैताल की कुंडलियाँ—	बैताल	५७-५९
(२०) हिमालय—	श्रीधर पाठक	६०-६३

विषय	लेखक	पृष्ठ
(२१) कौशल्या-विलाप—	गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'	६४-६८
(२२) शिव-विवाह—	तुलसीदास	६९-८२
(२३) कुमारसंभव-सार—	महावीरप्रसाद द्विवेदी	८३-८६
(२४) सहगमन—	कामताप्रसाद 'गुरु'	८७-९०
(२५) रहीम के दोहे—	अब्दुर्रहीम खानखाना	९१-९४
(२६) यमुना-वर्णन—	हरिश्चंद्र	९५-९७
(२७) सुदामा-चरित्र—	नरोत्तमदास	९८-१०५
(२८) दीनदयालगिरि की कुंडलियाँ	दीनदयालगिरि	१०६-११०
(२९) गंगा-वर्णन—	हरिश्चंद्र	१११-११२
(३०) राम-वन-गमन—	तुलसीदास	११३-१४३
(३१) प्रताप-विसर्जन—	राधाकृष्णदास	१४४-१४७
(३२) वसंतोत्सव—	बालमुकुंद गुप्त	१४८-१५२
(३३) विधि-विडंबना—	रामचरित उपाध्याय	१५३-१५६
(३४) वन-विहंगम—	रूपनारायण पांडेय	१५७-१५९
(३५) आत्म-त्याग—	लोचनप्रसाद पांडेय	१६०-१६५
(३६) वीर-बत्तीसी—	वियोगी हरि	१६६-१६८
(३७) कबीर के दोहे और पद—	कबीरदास	१६९-१७५
(३८) मीराँबाई के पद—	मीराँबाई	१७६-१७९
(३९) छत्रसाल का देवगढ़ विजय—	लालकवि	१८०-१८४
(४०) बिहारीलाल के दोहे—	बिहारीलाल	१८५-१९०
(४१) सूरदास के पद—	सूरदास	१९१-१९५
(४२) रावण-अंगद-संवाद—	केशवदास	१९६-२०२
(४३) गोरा बादल की कथा—	मलिक मुहम्मद जायसी	२०३-२१४
परिशिष्ट		१-२४

हिंदी प्रवेशिका पद्यावली



(१) दलित कुसुम

[१]

अहह ! अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से ?
प्रलय-घन-घटा-सी, छा गई तू कहाँ से ?
पर-दुख-सुख तूने, हा ! न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही, हाय ! यों तोड़ डाला ॥

[२]

तड़प तड़प माली, अश्रु-धारा बहाता।
मलिन मलिनिया का, दुःख देखा न जाता ॥
निठुर ! फल मिला क्या, व्यर्थ पीड़ा दिये से ?
इस नव-लतिका की, गोद सूनी किये से ॥

[३]

यह कुसुम अभी तो, डालियों में धरा था।
अगणित अभिलाषा, और आशा-भरा था॥
दलित कर इसे तू, काल ! क्या पा गया रे ?
कण भर तुझमें क्या, हा ! नहीं है दया रे॥

[४]

सहृदय जन के जो, कंठ का हार होता।
मुदित मधुकरी का, जीवनाधार होता॥
वह कुसुम रँगीला, धूल में जा पड़ा है।
नियति ! नियम तेरा, भी बड़ा ही कड़ा है॥

—रूपनारायण पांडेय



(२) निदाघ-निदर्शन

(१)

बीते दिन बसंत ऋतु भागी।
गरमी उग्र कोप कर जागी॥
ऊपर भानु प्रचंड प्रतापी।
भू पर भबके पावक पापी॥
आतप वात मिले रस-रूखे।
भावर भील सरोवर सूखे॥
जिन पूरी नदियों में जल है।
उनमें भी काँदा दलदल है॥

(२)

अवनी-तल में तीत नहीं है।
हिम-गिरि पै भी शीत नहीं है॥
पूरा सुमन-विकास नहीं है।
और लहलही घास नहीं है॥
गरम-गरम आँधी आती है।
भूभल बरसाती जाती है॥
भाँखर भाड़ रगड़ खाते हैं।
आग लगे वन जल जाते हैं॥

(३)

लपकें लट लूँ लहराती हैं।
जल-तरंग सी थहराती हैं॥
तृषित कुरंग वहाँ आते हैं।
पर न बूंद पय की पाते हैं॥

सूख गई सुखदा हरियाली।
हा! रस-हीन रसा कर डाली॥
कुतल जवासों के न जले हैं।
फूल-फूल कर आक फले हैं॥

(४)

हरित वेलि, पौधे मन भाये।
बैंगन, काशीफल, फल पाये॥
खरवूजे, तरवूजे, ककड़ी।
सब ने टाँग पित्त की पकड़ी॥
इमली के विधु-बाल कटारे।
आम अपक्क लुकाट गुदारे॥
सरस फालसे श्यामल दाने।
ये सब ने सुख-साधन जाने॥

(५)

व्यंजन, ओदन आदि हमारे।
पेट न भर सकते हैं सारे॥
गरम रहें तो कम खाते हैं।
रख दें तो बस बुस जाते हैं॥
चंदन में घनसार घिसाया।
पाटल-पुष्प-पराग पिसाया॥
ऐसा कर परिधान बसाये।
वे भी वसन विदाहक पाये॥

(६)

दीपक-ज्योति जहाँ जगती है।
चमक चंचला-सी लगती है॥

व्याकुल हम न वहाँ जाते हैं।
आकर क्या कुछ कर पाते हैं॥
ग्राम-ग्राम प्रत्येक नगर में।
घूमे घोर ताप घर-घर में॥
रुद्र-रोष दिनकर के मारे।
तड़प रहे नारी नर सारे॥

(७)

भीतर बाहर से जलते हैं।
अकुला कर पंखे झलते हैं॥
स्वेद बहे, तन डूब रहा है।
घबराते मन ऊब रहा है॥
काल पड़ा नगरों में जल का।
मोल मिले उष्णोदक नल का॥
वह भी कुछ घंटों बिकता है।
आगे तनिक नहीं टिकता है॥

(८)

पावक-बाण दिवाकर मारे।
हा! बड़वानल फूँक पजारे॥
खौल उठे नद सागर सारे।
जलते हैं जल-जंतु बिचारे॥
भानु-कृपा न कढ़े वसुधा से।
चंद्र न शीतल करे सुधा से॥
धूप हुताशन से क्या कम है।
हा! चाँदनी रात गरम है॥

(९)

जंगल गरमी से गरमाया।
मिलती कहीं न शीतल छाया॥
घमस घुसी तरु-पुंजों में भी।
निकले भवक निकुंजों में भी॥
सुंदर वन, आराम घने हैं।
परम रम्य प्रासाद बने हैं॥
सब में उष्ण व्यार बहती है।
घाम घमस घेरे रहती है॥

(१०)

फलने को तरु फूल रहे हैं।
पकने को फल भूल रहे हैं॥
पर, जब घोर घर्म पाते हैं।
सबके सब मुरझा जाते हैं॥
हरि मृग प्यासे पास खड़े हैं।
भूले नकुल भुजंग पड़े हैं॥
कंक, शचान, कबूतर, तोते।
निरखे एक पेड़ पर सोते॥

(११)

विधि ! यदि वापी, कूप न होते।
तो क्या हम सब जीवन खोते ?
पर पानी उन में भी कम है।
अब क्या करें नाक में दम है॥

कभी कभी घन रूप जाता है।
वृषारूढ़ रवि छुप जाता है॥
जो जल बादल से झड़ता है।
तो कुछ काल चैन पड़ता है॥

(१२)

पान करें पाचक जल-जीरा।
चखते रहें फुलाय कतीरा॥
बरफ गलाय छने ठंढाई।
ओषधि पर न प्यास की पाई॥
बँगलों में परदे खस के हैं।
बार-बार रस के चसके हैं॥
सुखिया सुख-साधन पाते हैं।
इतने पर भी अकुलाते हैं॥

(१३)

खलियानों पर दाँय चलाना।
फिर अनाज भूसा बरसाना॥
पूरा तप किसान करते हैं।
तो भी उदर नहीं भरते हैं॥
हलवाई, भुरजी, भटियारे।
सोनी भगत, लुहार बिचारे॥
नेक न गरमी से डरते हैं।
अपने तन फूँका करते हैं॥

(१४)

हा! बायलर की आग पजारे।
झपटे झाय लपक लू मारे॥

उड़ती भूभल फाँक रहे हैं।
जलते इंजन हाँक रहे हैं॥
भानु ताप उपजावे जिसको।
वह ज्वाला न जलावे किसको॥
व्याकुल जीव-समूह निहारे।
हाय ! हुताशन से सब हारे॥

(१५)

जेठ जगत को जीत रहा है।
काल विदाहक बीत रहा है॥
भबक भबूके मार रहे हैं।
हाय हाय हम हार रहे हैं॥
पावक-बाण प्रचंड चले हैं।
पंचराज भी बहुत जले हैं॥
बादल को अवलोक रहे हैं।
गरमी की गति रोक रहे हैं॥

(१६)

जब दिन पावस के आवेंगे।
वारि बलाहक बरसावेंगे॥
तब गरमी नरमी पावेगी।
कुछ तो ठंढक पड़ जावेगी॥
भाट बने कालानल रवि का।
ऐसा साहस है किस कवि का॥
'शंकर' कविता हुई न पूरी।
जलती भुनती रही अधूरी॥

—नाथूराम शंकर शर्मा

(३) उद्बोधन

(१)

हिमालय सर है उठाये ऊपर, बगल में झरना झलक रहा है।
उधर शरद् के हैं मेघ छाये, इधर फटिक जल छलक रहा है॥

(२)

इधर घना वन हरा भरा है, उपल पै तरुवर जगाया जिसने।
अचंभा इसमें है कौन प्यारे, पड़ा ये भारत जगाया उसने॥

(३)

कभी हिमालय के शृंग चढ़ना, कभी उतरते हैं श्रम से थक के।
थकन मिटाता है मंजु झरना, बटोही छाये में बैठ थक के॥

(४)

कृशोदरीगन कहाँ चली हैं, लिये हैं बोझा छुटी हैं बेणी।
निकल के बहती है चंद्रमुख से, पसीना बनकर छटा की श्रेणी॥

(५)

गगन-समीपी हिमाद्रि-शिखरें, घरों में जलती है दीप-माला।
यही अमरपुर उधर हैं सुरगण, इधर रसीली हैं देव-बाला॥

(६)

गिरीश भारत का द्वार-पट है, सदा से है यह हमारा संगी।
नृपति भगीरथ की पुण्यधारा, बगल में बहती हमारी गंगी॥

(७)

बता दे गंगा कहाँ गया है, प्रताप पौरुष विभव हमारा ?
कहाँ युधिष्ठिर, कहाँ है अर्जुन, कहाँ है भारत का कृष्ण प्यारा !!

(८)

सिखा दे ऐसा उपाय मोहन, रहें न भाई पृथक् हमारे।
सिखा दे गीता की कर्म-शिक्षा, बजा के बंशी सुना दे प्यारे ॥

(९)

अँधेरा फैला है घर में माधो, हमारा दीपक जला दे प्यारे।
दिवाला देखो हुआ हमारा, दिवाली फिर भी दिखा दे प्यारे ॥

(१०)

हमारे भारत के नौनिहालो, प्रभुत्व वैभव विकाश धारे।
सुहृद हमारे, हमारे प्रियवर, हमारी माता के चख के तारे ॥

(११)

न अब भी आलस में पड़ के बैठो, दशो दिशा में प्रभा है छाई।
उठो अँधेरा मिटा है प्यारे, बहुत दिनों पर दिवाली आई ॥

—मन्नन द्विवेदी

(४) किरण

किरण, तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु-पराग ॥

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन ।
किसी अज्ञात विश्व की विकल-
वेदना-दूती-सी तुम कौन ॥

अरुण-शिशु के मुख पर सविलास,
सुनहली लट घुँघराली कांत ।
नाचती हो जैसे तुम कौन ?
उषा के अंचल में अश्रांत ॥

भला, उस भोले मुख को छोड़,
चली हो किसे चूमने भाल ।
खेल है कैसा या है नृत्य ?
कौन देता है सम पर ताल ॥

कोकनद मधु-धारा-सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानंद,
उठाकर सुंदर सरस हिलोर ॥

स्वर्ग के सूत्र-सदृश तुम कौन?
मिलाती हो उससे भूलोक।
जोड़ती हो कैसा संबंध?
बना दोगी क्या विरज, विशोक॥

सुदिनमणि, वलय-विभूषित उषा-
सुंदरी के कर का संकेत।
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत॥

चपल, ठहरो कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनंत।
सुमन-मंदिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहाँ बसंत॥

—जयशंकर 'प्रसाद'



(५) भारतमाता

जय-जय भारत माता !

तेरा बाहर भी घर जैसा रहा प्यार ही पाता।

ऊँचा हिया-हिमालय तेरा,
उसमें कितना दरद भरा !
फिर भी आग दबा कर अपनी,
रखता है वह हमें हरा।

सौ सोतों से फूट-फूट कर पानी टूटा आता।
जय-जय भारत माता !

कमल खिले तेरे पानी में,
धरती पर हैं आम फले,
उस धानी आँचल में आहा !
कितने देश-विदेश पले।

भाई-भाई लड़े भले ही, टूट सका क्या नाता ?
जय-जय भारत माता !

तेरी लाल दिशा में ही माँ,
चंद्र-सूर्य चिरकाल उगें,
तेरे आँगन में मोती ही,
हिल-मिल तेरे हंस चुगें।

सुख बढ़ जाता, दुख घट जाता, जब वह है बँट जाता।
जय-जय भारत माता !

तेरे प्यारे बच्चे हम सब,
बंधन में बहु बार पड़े,
किंतु मुक्ति के लिए यहाँ हम,
कहाँ न जूझे, कब न लड़े ?
मरण शांति का दाता है, तो जीवन क्रांति-विधाता।
जय-जय भारत माता !

—मैथिलीशरण गुप्त



(६) वर्षा-ऋतु में ग्राम्य दृश्य

मेघाछन्न अकाश वहत मृदु पवन सुहावन।
कबहुँ कबहुँ रवि किरण-प्रभा सों दमकति नभ-घन ॥

हरित वर्ण भू मृदुल मनोहर चहुँ मन मोहत।
पगडंडिन की पाँति भाँति भाँतिन जहँ सोहत ॥

डाबर सरिता ताल नीरमय स्वच्छ मनोहर।
लहरावत नव शालि खेत खेतन महँ सुखकर ॥

चरत कतहुँ गा महिष वृषभ हय हिय हरसावत।
गल घंटिन-धुनि सुखद करन मन सुख सरसावत ॥

चरत जात पशु परत शब्द सुनि सर सर सुंदर।
तिहि के डर सों विपुल कीट-कुल भागत भर भर ॥

बगुला मैना काक ताक तिन उपर लगाये।
करि ढोरन की ओट जात सुख सों तिन खाये ॥

चाटत कहुँ गो पुलकि दूध बरसन को प्यावत।
कतहुँ बैठि स्वच्छंद ढोर सुख सों पगुरावत ॥

भरत चौकड़ी कतहुँ अश्व को वत्स सुहावत।
आवत माँ ढिग कबहुँ लगत पुनि दूर परावत ॥

कतहुँ भेड़ को झुंड मुंड नीचे करि धावत।
एक चरत, सब चरत, एक लखि सबहिं परावत ॥

कहुँ बैठे स्वच्छंद ग्वाल मेंडन के ऊपर।
मुरली मधुर बजाय सुधा सींचत हृद-भू पर ॥

कतहुँ फावरे धरे कृषक कोउ मेंड़ बनावत।
कहुँ श्रम सों अति थके कृषक निज चिलम चढ़ावत ॥

कोउ विशेष जल देखि खेत खनि नीर निकारत।
कीच सने तनु कतहुँ नीर सों कृषक पखारत ॥

काँधे काँवर लिये घास को कोउ गृह आवत।
कोउ काटत कहुँ घास गीत प्रमुदित चित गावत ॥

करत कतहुँ शिशु विविध रूप क्रीड़ा सुख पावत।
लरत काहु सों कोउ, कोउ किलकत, कोउ धावत ॥

करि करि तिरछे अंग कोउ पुलकित चित नाचत।
कोउ कर सों निज पेट कोउ तालियाँ बजावत ॥

कहुँ सरला बालिका धूल को भवन बनावत।
कहुँ फिरकनियाँ देत कोउ मृदु स्वर सों गावत ॥

निंब-डार लहराइ पकर तिहिं को कोउ झूलत।
काहू को कोउ हय बनाय तिहि पैं चढ़ि फूलत ॥

कहुँ युवकन की मृदुल मंडली जुरी सुहावन।
करत कथा रस-रंग संग छाई उमंग तन ॥

कहुँ पीपल के तरे बैठि ग्रामीण वृद्ध जन।
कहत शिशुन ढिग ग्राम्य कथा इतिहास पुरातन ॥

—लोचनप्रसाद पांडेय

(७) ब्रज-वर्णन

(१)

आते जो यहाँ हैं ब्रज-भूमि की छटा वे देख,
नेक न अघाते होते मोद-मद-माते हैं।
जिस ओर जाते उस ओर मनभाये दृश्य,
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं।
पल भर को वे अपने को भूल जाते सदा,
सुखद अतीत-सुधा-सिंधु में समाते हैं।
जान पड़ता है उन्हें आज भी कन्हैया यहाँ,
मैया-मैया टेरते हैं, गैया को चराते हैं॥

(२)

करते निवास छवि-धाम घनश्याम-भृंग,
उर-कलियों में सदा ब्रज-नर-नारी की।
कण-कण में है यहाँ व्याप्त दृग-सुखकारी,
मंजु मनोहारी मूर्ति मंजुल मुरारी की।
किस को नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देखकर गोवर्धन-धारी की।
न्यारी तीन लोक से है प्यारी जन्म-भूमि यही,
जन-मन-हारी वृंदा-विपिन-विहारी की॥

(३)

अंकित ब्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता-द्रुम-वल्लियों में और फल-फूल में।

भूमि ही यहाँ की सब काल बतला-सी रही,
ग्वाल-बाल संग वह लोटे इस धूल में।
कल-कल रूप में है वंशी-रव गूँज रहा,
जा के सुनो कलित कलिंदजा के कूल में।
ग्राम-ग्राम धाम-धाम में हैं घनश्याम यहाँ,
किंतु वे छिपे हैं मंजु मानस-दुकूल में ॥

(४)

गूँज रही आज भी सभी के श्रवणों में यही,
रुचिर रसाल ध्वनि नूपुरों के जाल की।
भूल सकता है कोई ब्रज में कभी क्या भला,
निपट निराली छटा चारु वनमाल की ?
समता मराल ने न नेक कभी कर पाई,
मंजु मंद-मंद नंद-नंदन की चाल की।
रहती दृगों में छाई उर में समाई सदा,
छवि मन-भाई बाल-मदनगोपाल की ॥

(५)

अब भी मुकुंद रहते हैं ब्रज-भूमि ही में,
देखते यहाँ के दृश्य दृग फेर-फेर के।
छिपे उर-कुंज में हैं वृंदावन-वासियों के,
थकते वृथा ही लोग उन्हें हेर-हेर के।
चित्तवृत्तियाँ हैं सब गोपियाँ उन्हीं की बनी,
रहतीं उन्हीं के आस-पास घेर-घेर के।
आठों याम सब लोग लेते हैं उन्हीं का नाम,
मानों हैं बुलाते श्याम-श्याम टेर-टेर के ॥

(६)

उमड़ रहा है प्रेम-पारावार मानस में,
ब्रज-बनिताएँ कैसे बैठी रहें मान में।
किस भाँति आज ब्रजराज से करें वे लाज,
रहता सदैव है समाया वह ध्यान में।
मन में बसी है मूर्ति उसी मनमोहन की,
हिचकें भला वे कैसे रूप-रस-पान में।
मृदु मुरली की तान प्राण में है गूँज रही,
कैसे न सुनेंगी उसे उँगली दे कान में॥

(७)

जिसने विपत्तियों से ब्रज को बचाया सदा,
दिव्य बल-पौरुष दिखाया बालपन में।
मार क्रूर कंस को स्वदेश का छुड़ाया क्लेश,
सुयश-प्रकाश छिटकाया त्रिभुवन में।
सब को सदैव दिखलाया शुचि विश्व-प्रेम,
गीता को बनाया उपजाया ज्ञान मन में।
दुःख को हटाया सुख-बेलि को बढ़ाया वह,
श्याम मन-भाया है समाया वृंदावन में॥

(८)

वही मंजु मही वही कलित कलिंदजा है,
ग्राम और धाम भी विशेष छबि-धाम हैं।
वही वृंदावन है निकुंज, द्रुम-पुंज भी हैं,
ललित लताएँ लोल लोचनाभिराम हैं॥

वही गिरिराज गोपजन का समाज वही,
वही सब साज-बाज आज भी ललाम हैं।
ब्रज की छटा विलोक आता मन में है यही,
अब भी यहाँ ही शुभ नाम घनश्याम हैं॥

(९)

देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ,
सुषमा सभी को सुध श्याम की दिलाती है।
फूली-फली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से,
सुरभि उन्हीं की दिव्य देह की ही आती है।
सुयश उन्हीं का शुक-सारिका सुनाते सदा,
कूक-कूक कोकिला उन्हीं का गुण गाती है।
हरी-भरी दृग-सुखदायी मन भाई मंजु,
यह ब्रज-मेदिनी उन्हीं की कहलाती है॥

(१०)

सुखद सजीली शस्य-श्यामला यहाँ की भूमि,
श्याम के ही रंग में रँगी है प्रेम-भाव से।
रज भी पुनीत हुई उनके चरण छूके,
सीस पर चढ़ाते उसे भक्तजन चाव से।
पाप-पुंज नाशी उर-कमल-विकासी हुआ,
यमुना-सलिल बस उनके प्रभाव से।
कर दिया पूरा उसे वर वृंदावन ने ही,
जो थी कमी मेदिनी में स्वर्ग के अभाव से॥

—गोपालशरणसिंह

(८) बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर।
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
कृषक-बालिका के जलधर॥

जलाशयों में कमल-दलों सा,
हमें खिलाता नित दिनकर।
पर बालक-सा वायु सकल-दल,
बिखरा देता, चुन सत्वर॥

लघु-लहरों के चल-पलनों में,
हमें झुलाता जब सागर।
वही चील-सा झपट बाँह गह,
हमको ले जाता ऊपर॥

विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की,
विविध रूप धर, भर नभ-अंक।
हम फिर क्रीड़ा-कौतुक करते,
छा अनंत-उर में निःशंक॥

कभी चौकड़ी भरते मृग-से,
भू पर चरण नहीं धरते।
मत्त-मत्त गज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते॥

कभी अचानक भूतों का-सा,
प्रकटा विकट महा-आकार।
कड़क कड़क जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार॥

फिर परियों के बच्चों-से हम,
सुभग सीप के पंख पसार।
समुद पैरते शुचि-ज्योत्स्ना में,
पकड़ इंदु के कर सुकुमार॥

अनिल-विलोडित गगन-सिंधु में,
प्रलय-बाढ़-से चारों ओर।
उमड़ उमड़ हम लहराते हैं,
बरसा उपल, तिमिर [घनघोर॥

दमयंती-सी कुमुद-कला के,
रजत-करों में फिर अभिराम।
स्वर्ण-हंस-से हम मृदु-ध्वनि कर,
कहते प्रिय-संदेश ललाम॥

व्योम-विपिन में जब वसंत-सा,
खिलता नव-पल्लवित प्रभात।
बहते हम तब अनिल-स्रोत में,
गिर तमाल-तम के-से पात॥

उदयाचल से बालहंस फिर,
उड़ता अंबर में अवदात।

फैल स्वर्ण-पंखों-से हम भी,
करते द्रुत मारुत से बात ॥

धीरे-धीरे संशय-से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर ।
नभ के उर में उमड़ मोह-से,
फैल लालसा-से निशिभोर ॥

इंद्रचाप-सी व्योम-भृकुटि पर,
लटक मौन-चिंता-से घोर ।
घोष-भरे विप्लव-भय-से हम,
छा जाते द्रुत चारों ओर ॥

पर्वत से लघु धूलि, धूलि से,
पर्वत बन पल में, साकार ।
कालचक्र-से चढ़ते, गिरते,
पल में जलधर, फिर जल-धार ॥

कभी हवा में महल बनाकर,
सेतु बाँधकर कभी अपार ।
हम विलीन हो जाते सहसा,
विभव-भूति ही-से निस्सार ॥

—सुमित्रानंदन पंत

(६) हृदय

(१)

धीर सा गंभीर सा यह है खड़ा,
धीर होकर यह अड़ा मैदान में।
देखता हूँ मैं जिसे तन-दान में,
जन-दान में सानंद जीवन-दान में॥
हट रहा जो दंभ आदर प्यार से,
बढ़ रहा जो आप अपनों के लिये।
डट रहा है जो प्रहारों के लिये,
विश्व की भरपूर मारों के लिये॥
देवताओं के यहाँ पर बलि करो,
दानवों का छोड़ दो सब दुःख भय।
"कौन है" ?—यह है महान मनुष्यता,
और है संसार का सच्चा 'हृदय'॥

(२)

क्यों पड़ी परतंत्रता की बेड़ियाँ ?
दासता की, हाय ! हथकड़ियाँ पड़ीं।
क्यों क्षुद्रता की छाप छाती पर छपी ?
कंठ पर जंजीर की लड़ियाँ पड़ीं॥
दास्य भावों के हलाहल से हरे !
मर रहा प्यारा हमारा देश क्यों ?
यह पिशाची उच्च शिक्षा सर्पिणी,
कर रही वर वीरता निःशेष क्यों ?

वह सुनो ! आकाशवाणी हो रही,
"नाश पाता जायगा तब तक विजय"।
वीर?-"ना" धार्मिक?-"नहीं" सत्कवि 'नहीं',
देश में पैदा न हो जब तक 'हृदय'॥

(३)

देश में बलवान भी भरपूर हैं,
और पुस्तक-कीट भी थोड़े नहीं।
हैं यहाँ धार्मिक ढले टकसाल के,
पर किसी ने भी हृदय जोड़े नहीं॥
ठोकरें खातीं मनों की शक्तियाँ;
राम-मूर्ति बने खुशामद कर रहे।
पूजते हैं देवता दबते नहीं,
दीन दब्बू बन करोड़ों मर रहे॥
"हे हरे ! रक्षा करो"—यह मत कहो,
चाहते हो इस दशा पर जो विजय।
तो उठो ढूँढ़ो छुपा होगा कहीं,
राष्ट्र का बलि देश का ऊँचा 'हृदय'॥

(४)

फूल से कोमल छबीला रत्न से,
वज्र से दृढ़ शुचि सुगंधी यज्ञ से।
अग्नि से जाज्वल्य हिम से शीत भी,
सूर्य से देदीप्यमान मनोज्ञ से॥
वायु से पतला पहाड़ों से बड़ा,
भूमि से बढ़कर क्षमा की मूर्ति है।

कर्म का औतार रूप शरीर जो,
श्वास क्या संसार की वह स्फूर्ति है ॥
मन महोदधि है वचन पीयूष हैं,
परम निर्दय है बड़ा भारी सदय।
कौन है ? है देश का जीवन यही,
और है वह, जो कहाता है 'हृदय' ॥

(५)

सृष्टि पर अति कष्ट जब होते रहे,
विश्व में फैलीं भयानक भ्रांतियाँ।
दंड अत्याचार बढ़ते ही गये,
कट गये लाखों, मिटी विश्रांतियाँ ॥
गद्दियाँ टूटीं असुर मारे गये—
किस तरह ? होकर करोड़ों क्रांतियाँ।
तब कहीं है पा सकी मातामही,
मृदुल जीवन में मनोहर शांतियाँ ॥
बज उठीं संसार भर की तालियाँ,
गालियाँ पलटीं—हुई ध्वनि जयति जय।
पर हुआ यह कब ? जहाँ दीखा अहो !
विश्व का प्यारा कहीं कोई 'हृदय' ॥

—माखनलाल चतुर्वेदी

---

(१०) चित्रकूट में श्री राम

(१)

उदित कुमुदिनी-नाथ हुए प्राची में ऐसे।
सुधा-कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे॥
धीरे धीरे उठे नई आशा से मन में।
क्रीड़ा करने लगे स्वच्छ स्वच्छंद गगन में॥

(२)

चित्रकूट भी चित्र-लिखा-सा देख रहा था।
मंदाकिनी-तरंग उसी से खेल रहा था॥
स्फटिक-शिला-आसीन राम-वैदेही ऐसे।
निर्मल जल में नीलकमल-नलिनी हों जैसे॥

(३)

निज प्रियतम के संग सुखी थी कानन में भी।
प्रेम भरा था वैदेही के आनन में भी॥
मृग-शावक के साथ मृगी भी देख रही थी।
सरल विलोकन जनकसुता से सीख रही थी॥

(४)

निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी।
सच ही है श्रीमान् भोगते सुख वन में भी॥

चंद्रातप था व्योम, तारका रत्न जड़े थे।
स्वच्छ दीप था सोम, प्रजा तरुपुंज खड़े थे॥

(५)

शांत नदी का स्रोत बिछा था अति सुखकारी।
कमल-कली का नृत्य हो रहा था मनहारी॥
बोल उठा जो हंस देखकर कमल-कली को।
तुरत रोकना पड़ा गूँजकर चतुर अली को॥

(६)

हिली आम की डाल चला ज्यों नवल हिंडोला।
आह कौन है? पंचम स्वर से कोकिल बोला॥
मलयानिल प्रहरी-सा फिरता था उस वन में।
शांति शांत हो बैठी थी कामद कानन में॥

(७)

राघव बोले देख जानकी के आनन को।
स्वर्गंगा का कमल मिला कैसे कानन को?
नील मधुप को देख वहीं उस कंज-कली ने।
स्वयं आगमन किया, कहा यह जनक-लली ने॥

(८)

बोले राघव—प्रिये, भयावह-से इस वन में।
शंका होती नहीं तुम्हारे कोमल मन में॥

कहा जानकी ने हँसकर—उसको है क्या डर।
जिसके पास प्रवीण धनुर्धर ऐसा है सहचर॥

(९)

कहा राम ने—अहा, महल मंदिर मनभावन।
स्मरण न होते, कहो, तुम्हें क्या वे अति पावन॥
रहते थे झनकार-पूर्ण जो तव नूपुर से।
सुरभिपूर्ण पुर होता था जिस अंत:पुर से॥

(१०)

जनक-सुता ने कहा—नाथ, यह क्या कहते हैं ?
नारी के सुख सभी साथ पति के रहते हैं॥
कहो उसे प्रियप्राण, अभाव रहा फिर किसका।
विभव चरण का रेणु तुम्हारा ही है जिसका॥

—जयशंकर 'प्रसाद'



(११) मातृ-भाषा

वीणा वज्र सी पड़ी खुल गये नेत्र और कुछ आया ध्यान।
मुड़ने की थी देर, दिख पड़ा उत्सव का प्यारा सामान॥

जिसको तुतला-तुतला कर के शुरू किया था पहली वार।
जिस प्यारी भाषा में हमको प्राप्त हुआ है माँ का प्यार॥

उस हिंदूजन की गरीविनी हिंदी—प्यारी हिंदी का।
प्यारे भारतवर्ष-कृष्ण की उस वाणी कालिंदी का॥

है उसका ही समारोह यह उसका ही उत्सव प्यारा।
मैं आश्चर्य-भरी आँखों से देख रही हूँ यह सारा॥

जिस प्रकार कंगाल वालिका अपनी माँ धन-हीना को।
टुकड़ों की मुहताज आज तक दुखिनी को, उस दीना को॥

सुंदर वस्त्राभूषण-सज्जित देख चकित हो जाती है।
सच है या केवल सपना है, कहती है, रुक जाती है॥

पर सुंदर लगती है, इच्छा यह होती है कर लें प्यार।
प्यारे चरणों पर वलि जाएं, कर लें मन भर के मनुहार॥

इच्छा प्रवल हुई, माता के पास दौड़ कर जाती है।
वस्त्रों को सँवारती, उसको आभूषण पहनाती है॥

इसी भाँति आश्चर्य मोद-मय आज मुझे झिझकाता है।
मन में उमड़ा हुआ भाव बस मुँह तक आ रुक जाता है॥

प्रेमोन्मत्ता होकर तेरे पास दौड़ जाती हूँ मैं।
तुझे सजाने या सँवारने में ही सुख पाती हूँ मैं॥

तेरी इस महानता में क्या होगा मूल्य लजाने का।
तेरी भव्य मूर्ति को नकली आभूषण पहनाने का॥

किंतु हुआ क्या माता! मैं भी तो हूं तेरी ही संतान।
इसमें ही संतोष मुझे है, इसमें ही आनंद महान॥

मुझसी एक-एक की बन तू तीस कोटि की आज हुई।
हुई महान सभी भाषाओं की तू ही सिरताज हुई॥

मेरे लिये बड़े गौरव की और गर्व की है यह बात।
तेरे द्वारा ही होवेगा भारत में स्वातंत्र्य प्रभात॥

अपने व्रत पर मर मिट जाना यह जीवन तेरा होगा।
जगती के वीरों द्वारा शुभ पद-वंदन तेरा होगा॥

तू होगी सुख-सार देश के बिछुड़े हृदय मिलाने में।
तू होगी अधिकार देश-भर को स्वातंत्र्य दिलाने में॥

—सुभद्राकुमारी चौहान

(१२) ओस

(१)

मोती मुझको बतलाते हो, वह कठोर है नहीं सजल।
द्रवित हृदय-सी मैं सजला हूँ, नव-पल्लव से भी कोमल॥
आती हूँ आकाश से प्रति-निशि, छिपता रवि जब अस्ताचल।
गाकर नीरव गीत नाचती, नहीं अप्सरा हूँ चंचल॥

(२)

भू पर तुरत लोट जाती हूँ, पवन छेड़ ज्यों ही करता।
मचल गई तो मचल गई मैं, उठती है फिर कौन भला॥
मुझे आबरू है बस प्यारी, पानी है मुझको रखना।
गले-गले और गली गली बन हार नहीं मुझको फिरना॥

(३)

शस्य-श्यामला पर मैं लेटी, सोई सुंदर फूलों में।
कोमल नव-पल्लव पर चमकी, सरस नदी के कूलों में॥
रँग बिगाड़ देती तितली का, मिली जो मुझसे भूलों में।
पुष्पों के सँग रही झूलती, चंद्रकिरण के झूलों में॥

(४)

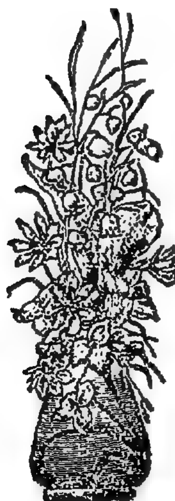
पड़ी देख मुझको निद्रा में, ऊषा मुझे जगाती है।
सप्त रंग की विमल चूनरी, सूर्य-किरण पहनाती है॥

रंगों में मैं भरी चमकती, दुनिया सब ललचाती है।
ऊषा मुझको नभ-मंडल में, भोर उठा ले जाती है॥

(५)

फिर भी मैं विहार करने को, नित्य स्वर्ग से आती हूँ।
कुंजों में कुछ रात काटकर, तारों-सँग छिप जाती हूँ॥
तुम कठोर हो मुझे न छूना, यही सोच मैं रोती हूँ।
दुखिया की आँखों से निकला, सजल सजीवन मोती हूँ॥

—गुरुभक्तसिंह



(१३) द्रौपदी-वचन-बाणावली

(१)

धर्मराज से दुर्योधन की इस प्रकार सुन सिद्धि विशाल,
चिंतन कर अपकार शत्रु-कृत कृष्णा कोप न सकी सँभाल।
क्रोध और उद्योग बढ़ानेवाली तब वह गिरा रसाल,
महीपाल को संबोधन कर बोली युक्ति-युक्त तत्काल॥

(२)

आप सदृश पंडित के संमुख निपट नीच नारी की बात,
तिरस्कार-कारक सी होती है हे नरपति-कुल-विख्यात!
वस्त्र-हरण आदिक अति दुःसह दुःख तथापि आज इस काल,
बार-बार प्रेरित करते हैं मुझे बोलने को भूपाल॥

(३)

तेरे ही वंशज महीप-वर सुरनायक-सम तेज-निधान,
जो धरणी अखंड इस दिन तक धारण किये रहे बलवान।
हा हा वही मही निज कर से तूने ऐसी फेंकी आज,
सिर से हार फेंक देता है जैसे महामत्त गजराज॥

(४)

कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग में कपट न करते हैं,
वे मतिमंद मूढ़ नर निश्चय पराभूत हो मरते हैं।
उनमें कर प्रवेश फिर उनको शठ यों मार गिराते हैं,
कवच-हीन तनु से ज्यों पैने बाण प्राण ले जाते हैं।

(५)

हे साधन-संपन्न नराधिप, हे क्षत्रिय-कुल-अभिमानी,
कुलजा गुण-गरिमा वशंवदा यह लक्ष्मी सब सुख-खानी।
तुझे छोड़कर अन्य कौन नृप इसको दूर हटावेगा,
अपनी मनोरमा रमणी सम रिपु से हरण करावेगा ?

(६)

हे महीप, मानी नर जिसको महानिंद्य बतलाते हैं,
उसी पंथ के आप पथिक हैं नहीं परंतु लजाते हैं।
कोपानल क्यों नहीं आपको भस्मी-भूत बनाता है ?
सूखे शमी वृक्ष को जैसे ज्वाला-जाल जलाता है ॥

(७)

यथासमय जो कोप अनुग्रह को प्रयोग में लाते हैं,
स्वयं देहधारी सब उनके वशीभूत हो जाते हैं।
क्रोध-हीन नर की रिपुता से नहीं मनुज भय खाते हैं,
तथा मित्रता से वे उसको आदर भी नहीं दिखाते हैं ॥

(८)

चंदन-चर्चित-गात भीम जो रथ ही पर चलता था तत्र,
धूलि-धूसरित वही विपिन में पैदल फिरता है सर्वत्र।
क्या इस पर भी पीड़ित होते नहीं आप पाकर संताप ?
सत्य-शील बनकर अनर्थ यह हाय कर रहे हैं क्या आप ॥

(९)

देवराज-सम जिस अर्जुन ने उत्तर-कुरु सब विजय किया,
करके हे नृप, तुझे अकृत्रिम अतुलित धनोपहार दिया।
तेरे लिए वही अब हा हा तरु के वल्कल लाता है,
इसे देख कर भी क्या तुझको कुछ भी क्रोध न आता है॥

(१०)

यहाँ महीतल पर सोने से मृदुल गात हो गया कठोर,
वन-गज तुल्य देख पड़ते हैं, जटा लटकती हैं सब ओर।
नकुल और सहदेव युग्म की ऐसी दुर्गति देख नरेश,
क्या तू शेष नहीं कर सकता अपना अब भी धैर्य विशेष॥

(११)

हे नृप, तेरी मति-गति मेरी नहीं समझ में आती है,
चित्त-वृत्ति भी किसी-किसी की अद्भुत देखी जाती है।
तेरी प्रबल आपदाओं का चिंतन करती हूं मैं जब,
मनस्ताप से फट जाता है यह मेरा हृदय-स्थल तब॥

(१२)

मूल्यवान मंजुल शय्या पर पहले निशा विताता था,
सुयश और मंगल-गीतों से प्रात जगाया जाता था।
वही आज तू कुश-काशों से युक्त भूमि पर सोता है,
श्रुति-कर्कश शृगाल-शब्दों से हा हा निद्रा खोता है॥

(१३)

द्विज-भोजन से बचा हुआ शुचि षटरस अन्न पुष्टिकारी,
खाकर जिसने इस शरीर को पहले किया मनोहारी।
भूप वही तू आज उदर निज वन-फल खाकर भरता है,
यश के साथ देह भी अपना हा हा हा ! कृश करता है॥

(१४)

रत्न-खचित सिंहासन ऊपर जो सदैव ही रहते थे,
नृप-मुकुटों के सुमन-रजःकरण जिनको भूषित करते थे।
मुनियों और मृगों के द्वारा खंडित-कुश युत वन भीतर,
अहह नग्न फिरते रहते हैं वे ही तेरे पद मृदुतर॥

(१५)

यह विचार कर कि यह दुर्दशा वैरी ने की है भूपाल,
हृदय समूल उखड़ जाता है पाती हूँ मैं व्यथा विशाल।
जिन मानी पुरुषों का विक्रम हर सकते न शत्रु-कुल-केतु,
उनकी ईश्वर-दत्त हार भी होती है सुख ही का हेतु॥

(१६)

मुझ पर करके कृपा वीरता धारण करिये फिर इस वार,
क्षमा छोड़िये जिसमें रिपु का होवे नृप, सत्वर संहार।
षड्रिपु-नाशक सहन-शीलता निस्पृह मुनियों के ही योग्य,
भूपालों के लिये सर्वदा वह सब भाँति अयोग्य, अयोग्य॥

(१७)

तेरे सम तेजोनिधान नर यशोरूप धन के धनवान,
हे महीप, अरि से पाकर भी यदि ऐसा दुःसह अपमान।
बैठे रहें शांतचित धारण किये हुए संतोष महान,
तो हा हा! हत हुआ निराश्रय मानवान पुरुषों का मान॥

(१८)

तुझे तुच्छ जँचते हैं यदि ये शौर्य आदि शुभ गुण-समुदाय,
क्षमा अकेली सतत सौख्य का मूल जान पड़ती है हाय!
तो यह राज-धर्म का सूचक वीरोचित कोदंड विहाय,
यहीं अखंड अग्नि की सेवा करता रह तू जटा बढ़ाय॥

(१९)

कपट कर रहा है रिपु इससे तुझ तेजस्वी को महिपाल,
पालन करना नहीं चाहिये कृत-प्रतिज्ञा-प्रण इस काल।
अरि पर विजय चाहनेवाले धराधीश बल-बुद्धि-निकेत,
विविध दोष की हुई संधि में दिखलाते हैं युक्ति-समेत॥

(२०)

दैवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आशीश,
शत्रु-नाश होने पर लक्ष्मी मिले पुनः ऐसे अवनीश।
जैसे प्रातःकाल सिंधु में मग्न हुए दिनकर को आय,
तिमिर-राशि हटने पर दिन की शोभा मिलती है सुख पाय॥

(१४) जलद के प्रति

जलद नहीं, जीवनद, जिलाया
जब कि जगज्जीवन्मृत को।
तपन-ताप-संतप्त तृषातुर,
तरुण-तमाल-तलाश्रित को॥

पय-पीयूष-पूर्ण पानी से, भरा प्रीति का प्याला है।
नव वन नव जन, नव तन, नव मन, नव घन! न्याय निराला है॥
भौंहें तान दिवाकर ने जब, भू का भूषण जला दिया।
माँ की दशा देख कर तुमने, तब विदेश प्रस्थान किया॥

वहाँ होशियारों ने तुमको,
खूब पढ़ाया, बहकाया।
'द' जोड़ ग्रेड बढ़ाया, तुम पर
जाल फूट का फैलाया॥

"जल" से "जलद" कहा, समझाया भेद तुझे ऊँचे बैठाल।
दाएँ-बाएँ लगे रहे, जिससे तुम भूलो जाति ख्याल॥
किंतु तुम्हारे चारु चित्त पर खिंची सदा माँ की तस्वीर।
क्षीण हुआ मुख, झलक रहा उन नलिनी-नयनों से दुख-नीर॥

पवन शत्रु ने तुम्हें उतरते देख उड़ाया पथ अंबर।
पर तुम कूद पड़े, पहनाया माँ को हरा वसन सुंदर॥
धन्य तुम्हारे भक्ति-भाव को दुःख सहे, डिगरी खोई।
ऊर्ध्वग जलद! बने निम्नग जल, प्यारे प्रीति-बेलि बोई॥

—सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

(१५) भगवान् बुद्ध की हंस-रक्षा

करत श्रीभगवान गुरुजन को सदा संमान,
वचन कहत विनीत, यद्यपि परम ज्ञान-निधान।
राज-तेज लखात मुख पै, तदपि मृदु व्यवहार,
हृदय परम सुशील, कोमल, यदपि शूर अपार।

कबहुँ जात अहेर को जब सखा लै सँग माहिं,
साहसी असवार तिन सम कोउ निकसत नाहिं।
राज-भवन समीप कबहुँ होड़ जो लगि जाय,
रथ चलावन माहिं कोऊ तिन्हैं सकत न पाय।

करत रहत अहेर, सहसा ठिठकि जात कुमार,
जान देत कुरंग को भाजि, लगत करन विचार।
कबहुँ जब घुरदौर में हय हाँफि छाँड़त साँस,
हार अपनी हेरि वा जब सखा होत उदास।

लगत कोऊ बात अथवा गुनन मन में आनि,
जीति आधी कुँअर बाजी खोय देतो जानि।
बढ़त ज्यों-ज्यों गयो प्रभु को वयस लहि दिन-राति,
बढ़ति दिन-दिन गई तिनकी दया याही भाँति।

यथा कोमल पात द्वै तें होत विटप विशाल,
करत छाया दूर लौं बहु जो गये कछु काल।
किंतु जानत नाहिं अब लौं रह्यो राजकुमार,
क्लेश, पीड़ा शोक काको कहत है संसार।

इन्हैं ऐसी वस्तु कोऊ गुनत सो मन माहिं,
राजकुल में कबहुँ अनुभव होत जिनको नाहिं।

एक दिवस वसंत ऋतु में भई ऐसी बात,
रहे उपवन बीच सों ह्वै हंस उड़ि कै जात।

जात उत्तर ओर निज-निज नीड़ दिशि तें धाय,
शुभ्र हिमगिरि अंक में जो लसत ऊपर जाय।
प्रेम के सुर भरत, बाँधे धवल सुंदर पाँति,
उड़े जात विहंग कलरव करत नाना भाँति।

देवदत्त कुमार चाप उठाय, शर संधानि,
लक्ष्य अगिले हंस को करि मारि दीनो तानि।
जाय बैठ्यो पंख में सो हंस के सुकुमार,
रह्यो फैल्यो करन हित जो नील नभ को पार।

गिर्यो खग भहराय, तन में बिंध्यो विशिख कराल,
रक्त-रंजित ह्वै गयो सब श्वेत पंख विशाल।
देखि यह सिद्धार्थ लीन्हो धाय ताहि उठाय,
गोद में लै जाय बैठ्यो पद्म-आसन लाय।

फेरि कर लघु जीव को भय दियो सकल छुड़ाय,
और धरकत हृदय को यों दियो धीर धराय।
नवल कोमल कदलि-दल सम करन सों सहराय,
प्रेम सों पुचकारि ताकत तासु मुख दुख पाय।

खैंचि लीन्हों निठुर शर करि यत्न वारंवार,
घाव पै धरि जड़ी-बूटी कियो बहु उपचार।
देखिबे हित पीर कैसी होति लागे तीर,
लियो कुँवर धसाय सो सर आप खोलि शरीर।

चौंकि सो चट पर्‌यो, पीरा परी दारुण जानि,
छाय नयनन नीर खग पै लग्यौ फेरन पानि।
पास ताके एक सेवक तुरत बोल्यो आय,
अवै मेरे कुँवर ने है हंस दियो गिराय।

गिर्‌यौ पाटल बीच विंधि कै ठौर पै सो याहि,
मिलै मोको, प्रभो! मेरे कुँवर माँगत ताहि।
बात ताकी सुनत बोल्यो तुरत राजकुमार,
जाय कै कहि देहु, दैहौं नाहिं काहु प्रकार।

मरत जो खग, अवसि पावत ताहि मारनहार,
जियत है जब, तासु तापै नाहिं कछु अधिकार।
दियो मेरे बंधु ने बस तासु गति को मारि,
रही जो इन श्वेत पंखन को उठावनहारि।

देवदत्त कुमार बोल्यो जियै वा मरि जाय,
होत पंछी तासु है जो देत वाहि गिराय।
नाहिं काहू को रह्यो जौलौं रह्यो नभ माहिं,
गिरि पर्‌यो तब भयो मेरो, देत हौ क्यों नाहिं?

लियो तब खग-कंठ को प्रभु निज कपोलन लाय,
पुनि परम गंभीर स्वर सों कह्यो ताहि बुझाय।
उचित है यह नाहिं, जो कछु कहत हौ तुम बात,
गयो है यह विहँग मेरो, नाहिं दैहौं तात!

जीव बहु अपनायहौं या भाँति या संसार,
दया को औ प्रेम को निज करि प्रभुत्व प्रसार।

दया-धर्म सिखायहौं मैं मनुज-गन को टेरि,
मूक खग पशु के हृदय की बात कहिहौं हेरि।

रोकिहौं भव-ताप की यह बढ़ति धार कराल,
परे जामें मनुज तें लै सकल जीव बिहाल।
किंतु चाहै कुँवर तो चलि विज्ञजन के तीर,
कहैं अपनी बात, चाहैं न्याय, धरि जिय धीर।

भयो अंत विचार नृप के सभामंडप माहिं,
कोउ 'ऐसो' कहत, कोऊ कहत 'ऐसो' नाहिं।
कह्यो याही बीच उठि अज्ञात पंडित एक,
"प्राण है यदि वस्तु कोऊ, करो नैकु विवेक।

जीव पै है जीव-रक्षक को सकल अधिकार,
स्वत्व वाको नाहिं चाह्यो बधन जो करि वार।
बधक नासत औ मिटावत, रखत रच्छनहार,
हंस है सिद्धार्थ को यह, सोइ पावनहार।"

लख्यो सारी सभा को यह उचित न्याय-विधान,
भई मुनि की खोज, पै सो भए अंतर्धान।
ब्याल रेंगत लख्यो सब तहँ और काहुहि नाहिं,
देवगण या रूप आवत कबहुँ भूतल माहिं।

दया के शुभ कार्य को आरंभ याहि प्रकार,
कियो श्री भगवान ने लखि दुखी यह संसार।
छाँड़ि पीर विहंग की, उड़ि मिल्यो जो निज गोत,
और क्लेश न कुँवर जानत कहाँ कैसे होत!

—रामचंद्र शुक्ल

(१६) एक फूल की चाह

[१]

उद्वेलित कर अश्रु-राशियाँ, हृदय-चिताएँ धधकाकर,
महा महामारी प्रचंड हो फैल रही थी इधर उधर।

क्षीण कंठ मृतवत्साओं का करुण-रुदन दुर्दांत नितांत,
भरे हुए था निज कृश रव में हाहाकार अपार अशांत।

बहुत रोकता था सुखिया को, 'न जा खेलने को बाहर',
नहीं खेलना रुकता उसका नहीं ठहरती वह पल भर।

मेरा हृदय काँप उठता था, बाहर गई निहार उसे,
यही मनाता था कि बचा लूँ किसी भाँति इस बार उसे।

भीतर जो डर रहा छिपाए, हाय! वही बाहर आया।
एक दिवस सुखिया के तनु को ताप-तप्त मैंने पाया।

ज्वर में विह्वल हो बोली वह, क्या जानूँ किस डर से डर,
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही दो लाकर!

[२]

बेटी, बतला तो तू मुझको, किसने तुझे बताया यह,
किसके द्वारा, कैसे तूने भाव अचानक पाया यह?

मैं अछूत हूँ, मुझे कौन हा! मंदिर में जाने देगा,
देवी का प्रसाद ही मुझको कौन यहाँ लाने देगा?

बार बार, फिर फिर तेरा हठ ! पूरा इसे करूँ कैसे,
किससे कहूँ, कौन बतलावे, धीरज हाय ! धरूँ कैसे ?

कोमल कुसुम-समान देह हा ! हुई तप्त अंगार-मयी,
प्रति पल बढ़ती ही जाती है विपुल वेदना, व्यथा नई।

मैंने कई फूल ला लाकर रक्खे उसकी खटिया पर,
सोचा,—शांत करूँ मैं उसको, किसी तरह तो बहलाकर।

तोड़-मोड़ वे फूल फेंक सब बोल उठी वह चिल्लाकर—
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही दो लाकर !

[३]

क्रमशः कंठ क्षीण हो आया, शिथिल हुए अवयव सारे,
बैठा था नव नव उपाय की चिंता में मैं मन मारे।

जान सका न प्रभात सजग से हुई अलस कब दोपहरी,
स्वर्ण-घनों में कब रवि डूबा, कब आई संध्या गहरी।

सभी ओर दिखलाई दी बस, अंधकार की ही छाया,
छोटी सी बच्ची को ग्रसने कितना बड़ा तिमिर आया !

ऊपर विस्तृत महाकाश में जलते से अंगारों से,
झुलसी जाती थीं आँखें जगमग जगते तारों से।

देख रहा था—जो सुस्थिर हो नहीं बैठती थी क्षण भर,
हाय ! वही चुपचाप पड़ी थी अटल शांति सी धारण कर।

सुनना वही चाहता था मैं उसे स्वयं ही उकसाकर—
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही दो लाकर !

[४]

हे मातः, हे शिवे, अंबिके, तप्त ताप यह शांत करो,
निरपराध छोटी बच्ची यह, हाय ! न मुझसे इसे हरो !

काली कांति पड़ गई इसकी, हँसी न जानें गई कहाँ,
अटक रहे हैं प्राण क्षीणतर साँसों में ही हाय यहाँ !

अरी निष्ठुरे, बढ़ी हुई ही है यदि तेरी तृषा नितांत,
तो कर ले तू उसे इसी क्षण मेरे इस जीवन से शांत !

मैं अछूत हूँ तो क्या मेरी विनती भी है हाय ! अपूत,
उससे भी क्या लग जावेगी तेरे श्री-मंदिर को छूत ?

किसे ज्ञात, मेरी विनती वह पहुँची अथवा नहीं वहाँ,
उस अपार सागर का दीखा पार न मुझको कहीं वहाँ !

अरी रात, क्या अक्षयता का पट्टा लेकर आई तू,
आकर अखिल विश्व के ऊपर प्रलय-घटा सी छाई तू !

पग भर भी न बढ़ी आगे तू डटकर बैठ गई ऐसी,
क्या न अरुण आभा जागेगी, सहसा आज विकृति कैसी !

युग के युग से बीत गए हैं, तू ज्यों की त्यों है लेटी,
पड़ी एक करवट कब से तू बोल, बोल, कुछ तो बेटी !

वह चुप थी, पर गूँज रही थी उसकी गिरा गगन-भर भर,
'मुझको देवी के प्रसाद का—एक फूल तुम दो लाकर !'

[५]

"कुछ हो देवी के प्रसाद का एक फूल तो लाऊँगा,
हो तो प्रातःकाल, शीघ्र ही मंदिर को मैं जाऊँगा।

तुझ पर देवी की छाया है, और इष्ट है यही तुझे,
देखूँ देवी के मंदिर में रोक सकेगा कौन मुझे।"

मेरे इस निश्चल निश्चय ने झट से हृदय किया हलका,
ऊपर देखा,—अरुण राग से रंजित भाल नभस्थल का!

झड़ सी गई तारकावलि थीं म्लान और निष्प्रभ होकर,
निकल पड़े थे खग नीड़ों से मानों सुध-बुध सी खोकर।

रस्सी-डोल हाथ में लेकर निकट कुएँ पर जा जल खींच,
मैंने स्नान किया शीतल हो सलिल-सुधा से तनु को सींच।

उज्ज्वल वस्त्र पहन घर आकर अशुचि-ग्लानि सब धो डाली,
चंदन-पुष्प-कपूर-धूप से सज ली पूजा की थाली।

सुखिया के सिरहाने जाकर मैं धीरे से खड़ा हुआ,
आँखें झँपी हुई थीं, मुख भी मुरझा सा था पड़ा हुआ।

मैंने चाहा,—उसे चूम लूँ, किंतु अशुचिता से डरकर,
अपने वस्त्र सँभाल, सिकुड़ कर खड़ा रहा कुछ दूरी पर।

वह कुछ कुछ मुसकाई सहसा, जानें किन स्वप्नों में लग्न,
उसकी वह मुसकाहट भी हा! कर न सकी मुझको मुद-मग्न।

अक्षम मुझे समझ कर क्या तू हँसी कर रही है मेरी ?
बेटी, जाता हूँ मंदिर में आज्ञा यही समझ तेरी।

उसने नहीं कहा कुछ, मैं ही बोल उठा तब धीरज धर,—
तुझको देवी के प्रसाद का एक फूल तो दूँ लाकर !

[६]

ऊँचे शैल-शिखर के ऊपर मंदिर था विस्तीर्ण विशाल,
स्वर्ण-कलश सरसिज विहसित थे पाकर समुदित रवि-कर-जाल।

परिक्रमा-सी कर मंदिर की, ऊपर से आकर झर झर,
वहाँ एक झरना झरता था कल-कल मधुर गान कर कर।

पुष्प-हार-सा जँचता था वह मंदिर के श्री-चरणों में,
त्रुटि न दीखती थी भीतर भी पूजा के उपकरणों में।

दीप-धूप से आमोदित था मंदिर का आँगन सारा,
गूँज रही थी भीतर-बाहर मुखरित उत्सव की धारा।

भक्त-वृंद मृदु-मधुर कंठ से गाते थे सभक्ति मुद-मय,—
'पतित-तारिणी पाप-हारिणी, माता, तेरी जय जय जय' !

'पतित-तारिणी तेरी जय जय'—मेरे मुख से भी निकला,
बिना बढ़े ही मैं आगे को जानें किस बल से ढिकला !

माता, तू इतनी सुन्दर है, नहीं जानता था मैं यह,
माँ के पास रोक बच्चों की, कैसी विधि यह तू ही कह ?

आज स्वयं अपने निदेश से तूने मुझे बुलाया है,
तभी आज पापी अछूत यह श्री-चरणों तक आया है!

मेरे दीप-फूल लेकर वे अंबा को अर्पित करके,
किया पुजारी ने प्रसाद जब आगे को अंजलि भरके।

भूल गया उसका लेना झट, परम लाभ-सा पाकर मैं,
सोचा,—बेटी को माँ के ये पुण्य-पुष्प दूँ जाकर मैं।

[७]

सिंह-पौर तक भी आँगन से नहीं पहुँचने मैं पाया,
सहसा यह सुन पड़ा कि—"कैसे यह अछूत भीतर आया?

पकड़ो, देखो भाग न जावे, बना धूर्त यह है कैसा,
साफ-स्वच्छ परिधान किए है, भले मानुषों के जैसा!

पापी ने मंदिर में घुसकर किया अनर्थ बड़ा भारी,
कलुषित कर दी है मंदिर की चिरकालिक शुचिता सारी"।

ऐं, क्या मेरा कलुष बड़ा है देवी की गरिमा से भी,
किसी बात में हूँ मैं आगे माता की महिमा के भी?

माँ के भक्त हुए तुम कैसे, करके यह विचार खोटा?
माँ के संमुख ही माँ का तुम गौरव करते हो छोटा।

कुछ न सुना भक्तों ने, झट से मुझे घेरकर पकड़ लिया,
मार-मारकर मुक्के-घूँसे धम से नीचे गिरा दिया!

मेरे हाथों से प्रसाद भी बिखर गया हा ! सब का सब,
हाय ! अभागी बेटी तुझ तक कैसे पहुँच सके यह अब।

मैंने उनसे कहा,—"दंड दो मुझे मारकर, ठुकराकर,
बस यह एक फूल कोई भी दो बच्ची को ले जाकर"।

[८]

न्यायालय ले गए मुझे वे, सात दिवस का दंड-विधान,
मुझको हुआ; हुआ था मुझसे देवी का महान अपमान !

मैंने स्वीकृत किया दंड वह शीश झुकाकर चुप ही रह,
उस असीम अभियोग, दोष का क्या उत्तर देता, क्या कह ?

सात रोज ही रहा जेल में या कि वहाँ सदियाँ बीतीं,
अविश्रांत वर्षा करके भी आँखें तनिक नहीं रीतीं।

कैदी कहते,—"अरे मूर्ख, क्यों ममता थी मंदिर पर ही ?
पास वहीं मसजिद भी तो थी दूर न था गिरजाघर भी"।

कैसे उनको समझाता मैं, वहाँ गया था क्या सुख से,
देवी का प्रसाद चाहा था बेटी ने अपने मुख से !

[९]

दंड भोगकर जब मैं छूटा, पैर न उठते थे घर को,
पीछे ठेल रहा था कोई भय-जर्जर तनु-पंजर को।

पहले की सी लेने मुझको नहीं दौड़ कर आई वह,
उलझी हुई खेल में ही हा ! अबकी दी न दिखाई वह।

उसे देखने मरघट को ही गया दौड़ता हुआ वहाँ,—
मेरे परिचित बंधु प्रथम ही फूँक चुके थे उसे जहाँ।

बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर छाती धधक उठी मेरी,
हाय ! फूल-सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी !

अंतिम बार गोद में बेटी, तुझको ले न सका मैं हा !
एक फूल माँ का प्रसाद भी तुझको दे न सका मैं हा !

वह प्रसाद देकर ही तुझको जेल न जा सकता था क्या ?
तनिक ठहर ही सब जन्मों के दंड न पा सकता था क्या ?

बेटी की छोटी इच्छा वह कहीं पूर्ण मैं कर देता,
तो क्या अरे दैव, त्रिभुवन का सभी विभव मैं हर लेता ?

यहीं चिता पर धर दूँगा मैं,—कोई अरे सुनो, वर दो,—
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही लाकर दो !

—सियारामशरण गुप्त



(१७) भारत-महिमा

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक-हार॥

जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नाश अखिल संसृति हो उठी अशोक॥

विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल-कर में सप्रीत।
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे छिड़ा तब मधुर साम-संगीत॥

बचा कर बीज रूप से सृष्टि नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत॥

सुना है दधीचि का वह त्याग हमारी जातीयता का विकास।
पुरंदर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरा इतिहास॥

सिंधु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह॥

धर्म्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद।
हमीं ने दिया शांति-संदेश सुखी होते देकर आनंद॥

विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट दया दिखलाते घर-घर घूम॥

यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि॥

किसी का हमने छीना नहीं प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि थी यहीं कहीं से हम आए थे नहीं॥

जातियों का उत्थान-पतन आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते प्रलय में पले हुए हम वीर॥

चरित थे पूत भुजा में शक्ति नम्रता रही सदा संपन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व किसी को देख न सके विपन्न॥

हमारे संचय में था दान अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज प्रतिज्ञा में रहती थी टेव॥

वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य्य-संतान॥

जियें तो सदा इसी के लिये यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष॥

—जयशंकर'प्रसाद'



(१८) प्रभात

प्रकृति वधू ने असित वसन बदला सित पहना।
तन से दिया उतार तारकावली का गहना॥
उसका नव अनुराग नील नभ-तल पर छाया।
हुई रागमय दिशा निशा ने वदन छिपाया॥

आरंजित हो उषा सुंदरी ने सुख माना।
लोहित आभा-वलित वितान अधर में ताना॥
नियति-करों से छिनी छपाकर की छवि सारी।
उठी धरा पर पड़ी सितासित चादर न्यारी॥

ओस-बिंदु ने द्रवित हृदय को सरस बनाया।
अवनी-तल पर विलस-विलस मोती बरसाया॥
खुले कंठ कमनीय गिरा ने बीन बजाई।
विहग-वृंद ने उमग मधुर रागिनी सुनाई॥

शीतल बहा समीर हुईं विकसित कलिकायें।
तरुदल विलसे बनी ललिततम सब लतिकायें॥
सर में खिले सरोज हो गईं सित सरितायें।
सुरभित हुआ दिगंत चल पड़ीं अलिमालायें॥

हुआ बाल-रवि उदित कनक-निभ किरणें फूटीं।
भरित तिमिर पर परम प्रभामय बनकर टूटीं॥
जगत जगमगा उठा विभा वसुधा में फैली।
खुली अलौकिक ज्योति-पुंज की मंजुल थैली॥

बने दिव्य गिरि-शिखर मुकुट-मणि-मंडित पाये।
कनकाभा मिल गये कलित झरने दिखलाये॥

मिले सुनहली कांति लसी सुमनावली सारी।
दमक उठीं वेलियाँ लाभ कर द्युति अति प्यारी॥

स्वर्ण तार से रचे चारुतम चादर द्वारा।
सकल जलाशय लसे बनी उज्वल जल-धारा॥
दिखा-दिखाकर तरल उरों की दिव्य उमंगें।
ले-लेकर रवि-विंब खेलने लगीं तरंगें॥

हीरक-कण हरिताभ तृणों पर गया उछाला।
बनी दूब रमणीय पहनकर मुक्ता-माला॥
मिले कांतिमय किरण लसे बालू के टीले।
सारे रजगण बने रजतकण-से चमकीले॥

जिस जगती को असित कर सकी थी तम-छाया।
रवि-विकास ने विलस उसे बहुरंग बनाया॥
कहीं हुई हरिताभ कहीं आरक्त दिखाई।
कहीं पीत छवि कांत स्वेत किरणें बन पाई॥

हुआ जागरित लोक रात्रि-गत जड़ता भागी।
बहा कर्म का स्रोत प्रकृति ने निद्रा त्यागी॥
विजित तमोगुण हुआ सतोगुण सितता छाई।
चकवी चावों भरी पास चकवे के आई॥

पहने कंजन-कलित कीट मुक्तावलि माला।
विकच कुसुम का हार, विभाकर-कर का पाला॥
प्राची के कमनीय अंक में लसित दिखाया।
लिये करों में कमल प्रभात विहँसता आया॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

(१६) वैताल की कुंडलियाँ

जीभि जोग अरु भोग जीभि बहु रोग बढ़ावै।
जीभि करै उद्योग जिभि लै कैद करावै॥
जीभि स्वर्ग लै जाय जीभि सब नरक दिखावै।
जीभि मिलावै राम जीभि सब देह धरावै॥
निज जीभि ओठ एकाग्र करि बाँट सहारे तोलिये।
वैताल कहै विक्रम सुनो जीभि सँभारे बोलिये॥ १॥

टका करैं कुल हूक टका मिरदंग बजावै।
टका चढ़े सुखपाल टका सिर छत्र धरावै॥
टका माय अरु बाप टका भैयन को भैया।
टका सास अरु ससुर टका सिर लाड़ लड़ैया॥
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाये रात दिन।
वैताल कहै विक्रम सुनो धिक जीवन एक टके बिन॥ २॥

मरै बैल गरियार मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू॥
बाँमन सो मरि जाय हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय जु कुल में दाग लगावै॥
अरु बे-नियाव राजा मरै तबै नींद भरि सोइये।
वैताल कहै विक्रम सुनो एते मरे न रोइये॥ ३॥

राजा चंचल होय मुलुक को सर करि लावै।
पंडित चंचल होय सभा उत्तर दै आवै॥
हाथी चंचल होय समर में सूँडि उठावै।
घोड़ा चंचल होय झपटि मैदान देखावै॥
हैं ये चारों चंचल भले राजा पंडित गज तुरी।
वैताल कहै विक्रम सुनो तिरिया चंचल अति बुरी॥ ४॥

दया चट्ट ह्वै गई धरम धँसि गयो धरन में।
पुन्य गयो पाताल पाप भो बरन बरन में॥
राजा करै न न्याय प्रजा की होत खुवारी।
घर घर में वेपीर दुखित भे सब नर नारी॥
अब उलटि दान गजपति मँगै सील सँतोष कितै गयो।
वैताल कहै विक्रम सुनो यह कलजुग परगट भयो॥ ५॥

मर्द सीस पर नवै मर्द बोली पहिचानै।
मर्द खिलावै खाय मर्द चिंता नहिं मानै॥
मर्द देय औ लेय मर्द को मर्द बचावै।
गाढ़े सँकरे काम मर्द के मर्दै आवै॥
पुनि मर्द उनहि को जानिये दुख सुख साथी दर्द के।
वैताल कहै विक्रम सुनो लच्छन हैं ये मर्द के॥ ६॥

चोर चुप्प ह्वै रहै रैन अँधियारी पाये।
संत चुप्प ह्वै रहै मढ़ी में ध्यान लगाये॥

वधिक चुप्प ह्वै रहै फाँसि पंछी लै आवै।
छैल चुप्प ह्वै रहै सेज पर तिरिया पावै॥
बर पिपर पात हस्ती श्रवन कोइ कोइ कवि कुछ-कुछ कहैं।
बैताल कहै विक्रम सुनो चतुर चुप्प कैसे रहैं॥ ७॥

ससि बिन सूनी रैन ज्ञान बिन हिरदै सूनो।
कुल सूनो बिनु पुत्र पत्र बिन तरुवर सूनो॥
गज सूनो इकदंत ललित बिंन सायर सूनो।
विप्र सून बिन वेद और बिन पुहुप बिहूनो॥
हरिनाम भजन बिन संत अरु घटा सून बिन दामिनी।
बैताल कहै विक्रम सुनो पति बिन सूनी कामिनी॥ ८॥

—बैताल



(२०) हिमालय

(१)

उत्तर दिसि नगराज अटल छवि सहित विराजत,
लसत स्वेत सिर मुकुट, झलक हिम सोभा भ्राजत।
वदन देस सविसेष, कनक आभा आभासत,
अधोभाग की स्याम वरन छवि हृदय हुलासत॥

(२)

स्वेत पीत सँग स्याम धार अनुगत सम अंतर,
सोहत त्रिगुन, त्रिदेव, त्रिजग, प्रतिभास निरंतर।
विलसत सो तिहुँ काल त्रिविध सुठि रेख अनूपम,
भारतवर्ष विशाल भाल भूषित त्रिपुंड्र सम।

(३)

उज्ज्वल ऊँचे शिखर दूर देसन लौं चमकत,
परत भानु नव किरन प्रात सुवरन सम दमकत।
लता पुहुप वनराजि, सदा ऋतुराज सुहावत,
हरी भरी डहडही वृच्छ-माला मन भावत॥

(४)

कोकिल कीर कदंब, अंब चढ़ि गान सुनावत,
स्यामा चारु सुगीत मधुर सुर पुनि पुनि गावत।
कहुँ हारीत कपोत कहूँ मैना लखि परियत,
कहुँ कहुँ खेचर-वर चकोर के दरसन करियत॥

(५)

देवदारु की डार कहूँ लंगूर हिलावत,
कहुँ मर्कट को कटक वेग सों तरु-तरु धावत।
विकसित नित नव कुसुम तरुन तरु मुकुलित बौरत,
अलबेले अलिवृंद कलिन के ढिग ढिग भौंरत॥

(६)

झरना जहँ तहँ झरत करत कल छुर छुर जल-रव,
पियत जीभ सों अंबुज अमृत उपमा हिम संभव।
पवन सीत अति सुखद, बुझावत बहु विधि तापा,
बादर दरसत, परसत, बरसत आपहि आपा॥

(७)

गंगा गोमुख स्रवत, कहै को सोभा ताकी,
बरनै जन्मस्थली, वह कि अथवा जमुना की।
सतलज, ब्यास, चिनाब प्रभृति पंजाब पंच-जल,
सरजू आदि अनेकन नदियन को निसरन-थल॥

(८)

पृष्ठ-भाग रमनीक, रुचिर राजत रावन-हृद,
ग्रहन करत निज देह, सिंधु अरु ब्रह्मपुत्र नद।
हरिद्वार केदार बदरिकाश्रम की सोभा,
लखि ऐसो को मनुज जासु मन कबहुँ न लोभा?

(९)

पुनि देखिय कसमीर देस नैपाल तराई,
सिक्कम और भूटान राज्य आसाम लगाई।
दच्छिन भुज अफगान राज मस्तक सों भेंटत॥
बाम बाहु सों बरमा के कच-भार समेटत॥

(१०)

ज्यों समर्थ बलवान सुभावहिं सों उदार मन,
देत अभय बरदान मानयुत निज आश्रितगन।
आर्यावर्त पुनीत ललकि हिय भरि आलिंगत,
गंगा जमुना अश्रु प्रेम प्रगटत हृदयंगत॥

(११)

रूरे रूरे गाम अधिक अंतर सों सोहत,
रूपवती, पर्वती, सती, जुवती मन मोहत।
अगनित पर्वत खंड चहूँ दिसि देत दिखाई,
सिर परसत आकास, चरन पाताल छुआई॥

(१२)

सोहत सुंदर खेत पाँति तर ऊपर छाई,
मानहुँ विधि पट हरित स्वर्ग सोपान बिछाई।
गहरे गहरे गर्त खड्ड दीरघ गहराई,
शब्द करत ही घोर प्रतिध्वनि देय सुनाई॥

(१३)

तहाँ निपट निश्शंक, वन्य पशु सुख सौं विचरत,
करत केलि-कल्लोल, मुदित आनंदित बिहरत।
कहुँ ईंधन कौ ढेर सिद्ध-आवास जनावत,
कहूँ समाधिस्थित जोगी की गुहा सुहावत॥

(१४)

विविध बिलच्छन दृश्य, सृष्टि सुखमा सुख-मंडल,
नंदनबन अनुरूप भूमि अभिनय रंगस्थल।
प्रकृति परम चातुर्य, अनूपम अचरज आलय,
'श्रीधर' दृग छकि रहत अटल छबि निरखि हिमालय॥

—श्रीधर पाठक



(२१) कौशल्या-विलाप

तन मन जिस पै मैं वारती थी सदैव।
वह गहन वनों में जायगा हाय दैव ॥
सरसिज-तन हा हा कंटकों में खिंचेगा!
घृत, मधु, पय-प्याला स्वेद ही से सिंचेगा ॥
यह हृदय-विदारी दृश्य मैं देखती हूँ।
पवि-हृदय बनी हूँ, आज भी जी रही हूँ ॥
खल पतित अभागे प्राण जाते नहीं क्यों?
रहकर तन में वे हैं लजाते वहीं क्यों ॥
मणि-महल-निवासी कंदरा में रहेगा।
बन परम उदासी कंदरा में रहेगा ॥
मृदु पद-तलवाला कंकड़ों में चलेगा।
तज मखमल आला कंकड़ों में चलेगा ॥
नव नव रस-भोजी खायगा कंदमूल।
जब तक न मिलेगा नित्य इच्छानुकूल ॥
मृदु सुमन बिछौने जो बिछाता रहा था।
वह कुछ न बिछावे, भाग्य में यों बदा था ॥
नरपति-सुत होके यों उदासी बनेगा।
यह खबर किसे थी दैव ऐसा तनेगा ॥
पल-पल भर में ही थी उसे देख लेती।
उस पर अपना मैं वार सर्वस्व देती ॥

वह मुझ दुखिनी के नेत्र की ज्योति ही था।
बस अधिक कहूँ क्या, जान था, और जी था ॥

बन बन फिरने को जायगा लाल मेरा।
विधि कुटिल करेगा हाय क्या हाल मेरा ॥

विधु-मुख न विलोके चैन कैसे पड़ेगा?
निज सब कुछ खोके चैन कैसे पड़ेगा ॥

वह घन-छविवाला सामने जो न होगा।
वह मम पय-पाला सामने जो न होगा ॥

वह मृग-दृगवाला दृष्टि से जो हटेगा।
यह कठिन कलेजा क्यों न मेरा फटेगा ॥

वह मृदु मुसकाता जो न माता कहेगा।
फिर सुख मुझको क्या प्राण रखके रहेगा ॥

फिर मधुर मलाई मैं किसे हाय दूँगी?
वर विविध मिठाई मैं किसे हाय दूँगी ॥

मन मृदु वचनों से कौन मेरा हरेगा?
यह हृदय दुखी हो धैर्य्य कैसे धरेगा ॥

प्रति पल किस पर मैं प्राण वारा करूँगी?
मुख-छबि किसकी मैं हा निहारा करूँगी ॥

विधि! यदि जगती में जन्म मेरा न होता।
कुछ रुक रहता क्या कार्य्य तेरा न होता ॥

दुख विषम सहाने के लिये था बनाया।
यह दिन दिखलाने के लिये था बनाया ॥

गुण-गण जिसके है गा रहा आज लोक ;
वह सुत बिछुड़ेगा शोक ! हा हंत शोक ॥

वह नृप-पद पावे, मैं नहीं चाहती थी।
दुख भरत उठावे, मैं नहीं चाहती थी ॥

सुरपति-पदवी भी तुच्छ मैं मानती थी।
बढ़कर सबसे मैं राम को जानती थी ॥

सिर मुकुट बिना ही क्या न शोभा सना है ?
वह गुण-गरिमा से क्या न राजा बना है ॥

भुज-बल समता में लोक में है न वीर।
रण-सुभट यथा है, है तथा धर्म-धीर ॥

रति-पति-मद-हारी रूप भी है सलोना।
वह सुरभि-सना है और है मंजु सोना ॥

प्रिय सुत वह मेरा भेस धारे यती का।
निज नयन निहारूँ, दोष है भाग्य ही का ॥

उर उपल धरूँगी और क्या मैं करूँगी।
विधि-वश दुख ऐसे देख के ही मरूँगी ॥

विधि ! सहृदय हो तो प्रार्थना मान जाओ।
अब तुम मुझको ही मेदिनी से उठाओ ॥

मम प्रिय सुत छूटा, साथ ही देह छूटे।
पल-भर जननी का स्नेह-नाता न टूटे ॥

फल निज़ सुकृतों का हाय मैं पा रही हूँ।
पर विधि पर सारा दोष मैं ला रही हूँ ॥

मन व्यथित महा है ज्ञान जाता रहा है।
सदय विधि क्षमा दे, ध्यान जाता रहा है॥

पर विनय न मेरी हे विधाता ! भुलाना।
मम सुत मितभोजी, तू न भूखा सुलाना॥

दुख उस पर कोई और आने न पावे।
मम कुँवर कन्हैया कष्ट पाने न पावे॥

युग-युग चिर जीवे, लोक में नाम होवे।
फिर घर फिर आवे राम-ही-राम होवे॥

किस विधि दुख झेलूँ, आर्त्ति कैसे घटेगी?
यह अवधि बड़ी है, हाय! कैसे कटेगी॥

पल पल युग होगा याम तो कल्प होंगे।
दिन-दिन दुख दूना, कष्ट क्या अल्प होंगे॥

मतिहत दुख दीना धैर्य्य कैसे धरूँगी?
सुध कर सुत की मैं हाय रो-रो मरूँगी॥

वह दृढ़ प्रण-पाली नीतिशाली कहाँ है?
वह हृदय-लता का मंजु माली कहाँ है॥

वह प्रबल प्रतापी हंस-वंशी कहाँ है?
वह खल-गण-तापी विष्णु-अंशी कहाँ है॥

तन सघन घटा-सा श्याम प्यारा कहाँ है?
वह अवधपुरी का राम प्यारा कहाँ है॥

वह मुझ जननी का चक्षु-तारा कहाँ है?
वह तन मन मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है॥

वह कलरव-केकी बोलता क्यों नहीं है ?
अब मधु श्रवणों में घोलता क्यों नहीं है ॥

वन क्षण-भर में ही क्या गया हाय प्यारा !
अब मुझ दुखिनी को क्या रहा है सहारा ॥

फिर मम सुत कोई पास मेरे बुला दे।
शशि-मुख वन जाते देख लूँ, आ दिखा दे ॥

निज हृदय लगा लूँ, ताप सारा मिटा लूँ।
फिर लख उसको मैं चित्त में चैन पा लूँ ॥

घर दुखद बना है जो कि था मोद-धाम।
मम प्रिय सुत हा ! हा ! राम ! हा राम ! राम !

यह कहकर रानी हो गई चेत-हीन।
जल तजकर जैसे खिन्न हो मीन दीन ॥

—गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'



(२२) शिव-विवाह

सकल सुरन्ह के हृदय अस, शंकर परम उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिं, नाथ तुम्हार बिबाहु॥

यह उत्सव देखिअ भरि लोचन।
सोइ कछु करहु मदन-मद-मोचन॥
काम जारि रति कहँ बर दीन्हा।
कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा॥
साँसति करि पुनि करहिं पसाऊ।
नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥
पारबती तप कीन्ह अपारा।
करहु तासु अब अंगीकारा॥
सुनि बिधिबिनय समुझि प्रभुबानी।
ऐसइ होय कहा सुभ मानी॥
तब देवन दुंदुभी बजाई।
बरषि सुमन जय जय सुरसाईं॥
अवसर जानि सप्तरिषि आए।
तुरतहि बिधि गिरिभवन पठाए॥
प्रथम गए जहँ रही भवानी।
बोले मधुर बचन छलसानी॥

कहा हमार न सुनेहु तब, नारद कै उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस॥

सुनि बोली मुसुकाइ भवानी।
उचित कहेहु मुनिबर बिग्यानी॥

तुम्हरे जान काम अब जारा।
अब लगि संभु रहे सविकारा॥
हमरे जान सदा सिव जोगी।
अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
जौं मैं सिव सेयेउँ अस जानी।
प्रीति समेत करम मन बानी॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा।
करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥
तुम्ह जो कहेहु हर जारेउ मारा।
सो अति बड़ अविवेक तुम्हारा॥
तात अनल कर सहज सुभाऊ।
हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ॥
गए समीप सो अवसि नसाई।
असि मनमथ महेस कै नांई॥

हिय हरषे मुनि वचन सुनि, देखि प्रीति विस्वास।
चले भवानी नाइ सिर, गए हिमाचल पास॥

सब प्रसंग गिरिपतिहिं सुनावा।
मदन-दहन सुनि अति दुख पावा॥
बहुरि कहेउ रति कर बरदाना।
सुनि हिमवंत बहुत सुख माना॥
हृदय विचारि संभु-प्रभुताई।
सादर मुनिवर लिए बुलाई॥
सुदिन सुनखत सुघरी सोचाई।
वेगि वेदविधि लगन धराई॥

पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही।
गहि पद बिनय हिमाचल कीन्ही॥
जाइ बिधिहि तिन्ह दीन्हि सो पाती।
बाँचत प्रीति न हृदय समाती॥
लगन बाँचि अज सबहिं सुनाई।
हरषे सुनि मुनि-सुर-समुदाई॥
सुमन वृष्टि नभ बाजन बाजे।
मंगल कलस दसहुँ दिसि साजे॥

लगे सँवारन सकल सुर, बाहन बिबिध बिमान।
होहिं सगुन मंगल सुभग, करहिं अपछरा गान॥

सिवहिं संभुगन करहिं सिंगारा।
जटामुकुट अहिमौर सँवारा॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला।
तन बिभूति पट केहरिछाला॥
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा।
नयन तीनि उपबीत भुजंगा॥
गरल कंठ उर नर-सिर-माला।
असिव वेष सिवधाम कृपाला॥
कर त्रिसूल अरु डँवरु बिराजा।
चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा॥
देखि सिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं।
बर लायक दुलहिनि जग नाहीं॥
बिष्णु बिरंचि आदि सुरब्राता।
चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता॥

सुर समाज सब भाँति अनूपा।
नहिं बरात दूलह-अनुरूपा॥

विष्णु कहा अस बिहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज॥

वर अनुहारि बरात न भाई।
हँसी करैहहु पर-पुर जाई॥
विष्णु-बचन सुनि सुर मुसुकाने।
निज निज सेन सहित बिलगाने॥
मनही मन महेस मुसुकाहीं।
हरि के व्यंग वचन नहिं जाहीं॥
अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे।
भृंगहि प्रेरि सकल गन टेरे॥
सिव अनुसासन सुनि सब आए।
प्रभु-पद-जलज सीस तिन्ह नाए॥
नाना वाहन नाना बेखा।
विहँसे सिव समाज निज देखा॥
कोउ मुखहीन बिपुलमुख काहू।
बिनु पद कर कोउ बहु-पद-बाहू॥
बिपुलनयन कोउ नयनबिहीना।
रिष्ट पुष्ट कोउ अति तनखीना॥

छंद—तनखीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरे॥
खर-स्वान-सुअर-सृगाल-मुख गन वेष अगनित को गनै।
बहु जिनिस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै॥

सोरठा—नाचहिं गावहिं गीत, परम तरंगी भूत सब।
देखत अति विपरीत, बोलहिं बचन विचित्र विधि ॥

जस दूलह तस बनी बराता।
कौतुक विविध होहिं मग जाता ॥
इहां हिमाचल रचेउ विताना।
अति विचित्र नहिं जाइ बखाना ॥
सैल सकल जहँ लगि जग माहीं।
लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं ॥
वन सागर सब नदी तलावा।
हिमगिरि सब कहुँ नेवति पठावा ॥
काम-रूप सुंदर-तनु-धारी।
सहित समाज सोह वर नारी ॥
आए सकल हिमाचल गेहा।
गावहिं मंगल सहित सनेहा ॥
प्रथमहिं गिरि बहु गृह सँवराए।
जथाजोग जहँ तहँ सब छाए ॥
पुर सोभा अवलोकि सुहाई।
लागहि लघु विरंचि निपुनाई ॥

छंद—लघु लागि विधि की निपुनता अवलोकि पुरसोभा सही।
बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही ॥
मंगल विपुल तोरन पताका केतु गृह गृह सोहहीं।
बनिता पुरुष सुंदर चतुर छवि देखि मुनि मन मोहहीं ॥

दोहा—जगदंबा जहँ अवतरी, सो पुर बरनि कि जाइ।
रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख, नित नूतन अधिकाइ ॥

नगर निकट बरात सुनि आई।
पुर खरभर सोभा अधिकाई॥
करि बनाव सब बाहन नाना।
चले लेन सादर अगवाना॥
हिय हरषे सुरसेन निहारी।
हरिहि देखि अति भए सुखारी॥
सिव-समाज जब देखन लागे।
बिडरि चले वाहन सब भागे॥
धरि धीरज तहँ रहे सयाने।
बालक सब लै जीव पराने॥
गए भवन पूछहिं पितु माता।
कहहिं वचन भयकंपित गाता॥
कहिअ कहा कहि जाइ न बाता।
जम कर धारि किधौं बरिआता॥
बर बौराह बरद असवारा।
व्याल कपाल विभूषन छारा॥

छंद—तन छार व्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकटमुख रजनीचरा॥
जो जिअत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही।
देखिहि सो उमाबिवाह घर घर बात अस लरिकन्ह कही॥

दोहा—समुझि महेस समाज सब जननि जनक मुसुकाहिं।
बाल बुझाए बिबिध बिधि निडर होहु डर नाहिं॥

लै अगवान बरातहि आए।
दिए सबहि जनवास सुहाए॥

मैना सुभ आरती सँवारी।
संग सुमंगल गावहिं नारी॥
कंचन थार सोह बर पानी।
परिछन चली हरहिं हरषानी॥
बिकटबेष रुद्रहिं जब देखा।
अबलन उर भय भयेउ बिसेखा॥
भागि भवन पैठीं अति त्रासा।
गए महेस जहाँ जनवासा॥
मैना हृदय भयेउ दुख भारी।
लीन्ही बोलि गिरीसकुमारी॥
अधिक सनेह गोद बैठारी।
स्याम सरोज नयन भरि बारी॥
जेहि बिधि तुमहिं रूप अस दीन्हा।
तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा॥

छंद—कस कीन्ह बर बौराह विधि जेहि तुम्हहिं सुंदरता दई।
जो फलु चहिअ सुरतरुहिं सो बरबस बबूरहिं लागई॥
तुम्ह सहित गिरि ते गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं।
घर जाउ अपजस होउ जग जीवत बिबाह न हौं करौं॥

दोहा—भईं बिकल अबला सकल, दुखित देखि गिरिनारि।
करि बिलाप रोदति बदति सुता सनेह सँभारि॥

नारद कर मैं कहा बिगारा।
भवन मोर जिन्ह बसत उजारा॥
अस उपदेस उमहिं जिन्ह दीन्हा।
बौरे बरहिं लागि तप कीन्हा॥

साँचेहु उन्हके मोह न माया।
उदासीन धन धाम न जाया॥
पर-घर-घालक लाज न भीरा।
बाँझ कि जान प्रसव की पीरा॥
जननिहिं विकल बिलोकि भवानी।
बोली जुत बिबेक मृदु बानी॥
अस बिचारि सोचहि मति माता।
सो न टरै जो रचै बिधाता॥
करम लिखा जौ बाउर नाहू।
तौ कत दोष लगाइअ काहू॥
तुम्ह सन मिटिहि कि बिधि के अंका।
मातु व्यर्थ जनि लेहु कलंका॥

छंद—जनि लेहु मातु कलंक करुणा परिहरहु अवसर नहीं।
दुख सुख जो लिखा लिलार हमरे जाब जहँ पाउब तहीं॥
सुनि उमावचन विनीत कोमल सकल अबला सोचहीं।
बहु भाँति बिधिहिं लगाइ दूषन नयन वारि बिमोचहीं॥

दोहा—तेहि अवसर नारद सहित, अरु रिषिसप्त समेत।
समाचार सुनि तुहिन गिरि, गवने तुरित निकेत॥

तब नारद सबही समुझावा।
पूरब-कथा-प्रसंग सुनावा॥
मैना सत्य सुनहु मम बानी।
जगदंबा तब सुता भवानी॥
अजा अनादि सक्ति अबिनासिनी।
सदा संभु-अरधंग-निवासिनी॥

जग-संभव-पालन-लय-कारिनी ।
निज इच्छा लीला-बपु-धारिनी ॥
जनमी प्रथम दच्छगृह जाई ।
नाम सती सुंदर तनु पाई ॥
तहँउँ सती शंकरहि बिबाहीं ।
कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं ॥
एक वार आवत सिव संगा ।
देखेउ रघुकुल-कमल-पतंगा ॥
भयेउ मोह सिव कहा न कीन्हा ।
भ्रमवस वेष सीय कर लीन्हा ॥

छंद—सियवेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध शंकर परिहरी ।
हर-बिरह जाइ बहोरि पितु के जग्य जोगानल जरी ॥
अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुन तपु किया ।
अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्वदा शंकरप्रिया ॥

दोहा—सुनि नारद के वचन तव, सव कर मिटा विषाद ।
छन महँ व्यापेउ सकल पुर, घर घर यह संबाद ॥

तब मैना हिमवंत अनंदे ।
पुनि पुनि पारबती पद बंदे ॥
नारि पुरुष सिसु जुवा सयाने ।
नगर लोग सब अति हरषाने ॥
लगे होन पुर मंगल गाना ।
सजे सबहि हाटक घट नाना ॥
भाँति अनेक भई जेवनारा ।
सूपसास्त्र जस कछु व्यवहारा ॥

सो जेवनार कि जाइ बखानी।
बसहिं भवन जेहि मातु भवानी॥
सादर बोले सकल बराती।
विष्णु बिरंचि देव सब जाती॥
विविध पाँति बैठी जेवनारा।
लगे परोसन निपुन सुआरा॥
नारिवृंद सुर जेवँत जानी।
लगीं देन गारी मृदुबानी॥

छंद—गारी मधुर सुर देहिं सुंदरि व्यंग बचन सुनावहीं।
भोजन करहिं सुर अति बिलंब विनोद सुनि सचु पावहीं॥
जेवँत जो बढ़्यौ अनंद सो मुख कोटिहू न परै कह्यौ।
अँचवाइ दीन्हे पान गवने बास जहँ जाको रह्यौ॥

दोहा—बहुरि मुनिन्ह हिमवंत कहँ, लगन सुनाई आइ।
समय विलोकि विवाह कर, पठए देव बोलाइ॥

बोलि सकल सुर सादर लीन्हे।
सबहि जथोचित आसन दीन्हे॥
वेदी वेदविधान सँवारी।
सुभग सुमंगल गावहिं नारी॥
सिंघासन अति दिव्य सुहावा।
जाइ न बरनि विचित्र बनावा॥
बैठे सिव विप्रन्ह सिरु नाई।
हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई॥
बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाई।
करि सिंगार सखी ले आई॥

देखत रूप सकल सुर मोहे।
बरनै छबि अस जग कबि को है॥
जगदंबिका जानि भव बामा।
सुरन्ह मनहिं मन कीन्ह प्रनामा॥
सुंदरता-मरजाद भवानी।
जाइ न कोटिन बदन बखानी॥

छंद—कोटिहु बदन नहिं बनै बरनत जग-जननि-सोभा महा।
सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मंदमति तुलसी कहा॥
छबिखानि मातु भवानि गवनी मध्य मंडप सिव जहाँ।
अवलोकि सकै न सकुचि पति-पद-कमल मन मधुकर तहाँ॥

दोहा—मुनि-अनुसासन गनपतिहिं, पूजेउ संभु-भवानि।
कोउ सुनि संसय करै जनि, सुर अनादि जिअ जानि॥

जसि बिबाह कै बिधि श्रुति गाई।
महामुनिन्ह सो सब करवाई॥
गहि गिरीस कुस कन्या पानी।
भवहिं समरपी जानि भवानी॥
पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा।
हिअ हरषे तब सकल सुरेसा॥
बेदमंत्र मुनिबर उच्चरहीं।
जय जय जय शंकर सुर करहीं॥
बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना।
सुमनवृष्टि नभ भइ बिधि नाना॥
हर गिरिजा कर भयेउ बिबाहू।
सकल भुवन भरि रहा उछाहू॥

दासी दास तुरँग रथ नागा।
धेनु बसन मनि बस्तु विभागा॥
अन्न कनक भाजन भरि जाना।
दाइज दीन्ह न जाइ बखाना॥

छंद—दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यौ।
का देउँ पूरनकाम शंकर चरनपंकज गहि रह्यौ॥
सिव कृपासागर ससुर कर संतोष सब भाँतिहि कियो।
पुनि गहे पदपाथोज मैना प्रेमपरिपूरन हियो॥

दोहा—नाथ उमा मम प्रान सम, गृहकिंकरी करेहु।
छमेहु सकल अपराध अब, होइ प्रसन्न बरु देहु॥

बहु बिधि संभु सासु समुझाई।
गवनी भवन चरन सिरु नाई॥
जननी उमा बोलि तब लीन्ही।
लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही॥
करेहु सदा शंकर-पद पूजा।
नारिधरम पति देव न दूजा॥
वचन कहत भरि लोचन वारी।
बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी॥
कत विधि सृजी नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥
भइ अति प्रेम बिकल महतारी।
धीरज कीन्ह कुसमउ विचारि॥
पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना।
परम प्रेम कछु जाइ न बरना॥

सब नारिन्ह मिलि भेंटि भवानी।
जाइ जननि उर पुनि लपटानी॥

छंद—जननिहिं बहुरि मिलि चलीं उचित असीस सब काहू दई।
फिरि फिरि बिलोकति मातुतन तब सखी लेइ सिव पहिं गई॥
जाचक सकल संतोषि शंकर उमा सहित भवन-चले।
सब अमर हरषे सुमन बरषि निसान नभ बाजे भले॥

दोहा—चले संग हिमवंतु तब पहुँचावन अति हेतु।
बिबिध भाँति परितोषु करि बिदा कीन्ह वृष-केतु॥

तुरत भवन आए गिरि-राई।
सकल शैल सर लिए बोलाई॥
आदर दान बिनय बहु माना।
सब कर बिदा कीन्ह हिमवाना॥
जबहिं संभु कैलासहि आए।
सुर सब निज निज लोक सिधाए॥
जगत-मातु पितु संभु-भवानी।
तेहि सिंगारु न कहौं बखानी॥
करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा।
गनन्ह समेत बसहिं कैलासा॥
हर-गिरिजा-बिहार नित नएऊ।
एहि बिधि बिपुल काल चलि गएऊ॥
तब जनमेउ षट-बदन कुमारा।
तारकु असुर समर जेहि मारा॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना।
षड्मुख-जनमु सकल जगु जाना॥

छंद—जगु जान षड्मुख-जनमु करमु प्रतापु पुरुषारथु महा।
तेहि हेतु मैं वृष-केतु-सुत कर चरित संछेपहि कहा॥
यह उमा-संभु-विवाहु जे नर नारि कहहिं जे गावहीं।
कल्यान काज विवाह मंगल सर्वदा सुखु पावहीं॥

—तुलसीदास



(२३) कुमारसंभवसार

(१)

सारे देववृंद से खिंच कर देवराज के नयन हजार,
कामदेव पर बड़े चाव से आकर पड़े एक ही बार।
अपने सब सेवक-समूह पर स्वामी का आदर-सत्कार,
प्रायः घटा बढ़ा करता है सदा प्रयोजन के अनुसार॥

(२)

सुख से बैठो यहाँ मनोभव !—इस प्रकार कर वचन-विकास,
आसन रुचिर दिया सुरपति ने अपने ही सिंहासन पास।
स्वामी की इस अनुकंपा का अभिनंदन कर शीश झुकाय,
रतिनायक इस भाँति इंद्र से बोला उसे अकेला पाय॥

(३)

सब के मन की बात जानने में अति निपुण प्रभो ! देवेश,
विश्व-बीच कर्तव्य कर्म तव क्या है मुझे होय आदेश।
करके मेरा स्मरण अनुग्रह, दिखलाया है जो यह आज,
उसे अधिक करिए आज्ञा से यही चाहता हूँ सुरराज॥

(४)

इंद्रासन के इच्छुक किसने करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुझ में—मुझसे कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य शरासन पाँच कुसुम-सायक धारी।
अभी बना लेवे तत्क्षण ही उसको निज आज्ञाकारी॥

(५)

जन्म-जरा-मरणादि दुःख से होकर दुखी कौन ज्ञानी,
तव सम्मति प्रतिकूल गया है भक्ति-मार्ग में अभिमानी।
भृकुटी कुटिल कटाक्ष-पात से उसे सुंदरी सुरबाला,
बाँध डाल रक्खे, वैसे ही पड़ा रहे वह चिर काला॥

(६)

नीति शुक्र से पढ़ा हुआ भी है यदि कोई अरि तेरा,
पहुँचे अभी पास उसके झट दूत राग-रूपी मेरा।
जल का ओघ नदी तट दोनों पीड़ित करता है जैसे,
धर्म, अर्थ दोनों ही उसके पीड़न करूँ, कहो तैसे॥

(७)

महा पतिव्रत-धर्मधारिणी किस नितंबिनी ने अमरेश!
निज चारुता दिखाकर तेरे चंचल चित में किया प्रवेश।
क्या तू यह इच्छा रखता है, कि वह तोड़ लज्जा का जाल,
तेरे कंठ-देश में डाले आकर अपने बाहु-मृणाल॥

(८)

समझ सुरत अपराध, कोप कर, किस तरुणी ने हे कामी!
तुझे तिरस्कृत किया? हुआ तव शीस यदपि तत्पद-गामी।
उग्रताप से व्याकुल होकर वह मन में अति पछतावे,
पड़ी रहे पल्लव-शय्या पर, किए हुए का फल पावे॥

(९)

मुदित हूजिए वीर ! वज्र तव करे अखंडित अब विश्राम,
बतलाइये, देवताओं का वैरी कौन पराक्रम-धाम।
मेरे शरसमूह से होकर विफल-बाहुबल कंपित-गात,
अधर कोप-विस्फुरित देखकर डरे स्त्रियों से भी दिन रात॥

(१०)

हे सुरेश ! तेरे प्रसाद से कुसुमायुध ही मैं, इस काल;
साथ एक ऋतुपति को लेकर, और प्रपंच यहीं सब डाल।
धैर्य पिनाकपाणि हर का भी, कहिये स्खलित करूँ देवार्थ,
और धनुर्धर धरनेवाले सब मेरे सन्मुख तुच्छ पदार्थ॥

(११)

पादपीठ को शोभित करते हुए इंद्र ने इतने पर,
जंघा से उतारकर अपना खिले कमल-सम पद सुंदर।
निज अभिलषित विषय में सुनकर मन्मथ का सामर्थ्य महा,
उसने- अति आनंद-पूर्वक, समयोचित, इस भाँति कहा॥

(१२)

सखे ! सभी तू कर सकता है, तेरी शक्ति जानता हूँ,
तुझको और कुलिश को ही मैं अपना अस्त्र मानता हूँ।
तपोबली पुरुषों के ऊपर वज्र व्यर्थ हो जाता है,
मेरा तू अमोघ साधन है, सभी कहीं तू जाता है॥

(१३)

तेरा बल है विदित, तुझे मैं अपने तुल्य समझता हूँ,
बड़े काम में इसीलिए ही तव नियुक्ति मैं करता हूँ।
देख लिया जब यह कि शेष ने सिर पर भूमि उठाई है,
तभी विष्णु ने उस पर अपनी शय्या सुखद बनाई है॥

(१४)

यह कहकर कि सदाशिव पर भी चल सकता है शर तेरा,
मानो अंगीकार कर लिया काम ! काम तूने मेरा।
यही इष्ट है, क्योंकि शत्रु अब अति उत्पात मचाते हैं,
यज्ञभाग भी देववृंद से छीन छीन ले जाते हैं॥

(१५)

जिसके औरस पुत्र-रत्न को करके अपना सेनानी,
सुरविजयी होना चाहते हैं, मार असुर सब अभिमानी।
वही महेश समाधि-मग्न हैं, पास कौन जा सकता है,
तेरा विशिख तथापि एक ही कार्य सिद्ध कर सकता है॥

(१६)

ऐसा करो उपाय जाय कर, हे रतिनायक बड़भागी,
हों जिससे पवित्र गिरिजा में योगीश्वर हर अनुरागी।
उनके योग्य कामिनी-कुल में वही एक गिरि-बाला है,
सत्य वचन ब्रह्मा ने अपने मुख से यही निकाला है॥

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

(२४) सहगमन

छूटने पाया न कंकण व्याह का।
आ गया आदेश विक्रम शाह का॥
शीघ्र ही जयसिंह जाओ युद्ध पर।
देशहित के हेतु सर्वस त्याग कर॥
पास पत्नी के गये ठाकुर तभी।
और उसको पत्र दे बोले अभी॥
शीघ्र ही फिर भेंट कर उसको हिये।
हट गये झटपट निकलने के लिये॥
देवकी ने धीर अपना खो दिया।
प्राणपति से झट लिपटकर रो दिया॥
पर अचानक भाव उसका फिर गया।
मोह का परदा हृदय से गिर गया॥
प्रेम से उसने सुना पति का कहा।
खेद पति के चित्त का जाता रहा॥
किंतु जब आई बिछुड़ने की घड़ी।
गाज सी दोनों मनों पर आ पड़ी॥
मोह का संकेत फिर कर अनसुना।
धर्म का कर्त्तव्य दोनों ने गुना॥
देवकी ने शीघ्र रण-कंकण दिया।
बाँध उसको हाथ में पति ने लिया॥
चिन्ह दोनों साथ ले उत्साह में।
जा रहे जयसिंह हैं रन-राह में॥
सुध प्रिया की मार्ग में आती रही।
किंतु रन-मैदान में जाती रही॥

युद्ध में तो और ही कुछ ध्यान है।
पूर्ण हिय में देश का अभिमान है॥
प्राण क्या हैं देश के हित के लिये।
देश खोकर जो जिये तो क्या जिये॥
मग्न हैं जयसिंह रन के चाव में।
ला रहे हैं शत्रु को निज दाँव में॥
घाटियाँ, मैदान, पर्वत, खाइयाँ।
सब कहीं हैं सूरमा औ दाइयाँ॥
रात-दिन है अग्नि-वर्षा हो रही।
रात-दिन है पूर्ण लोथों से मही॥
व्योम जल थल सब कहीं है रन मचा।
युद्ध के फल से नहीं कोई बचा॥
एक दिन जयसिंह धावा मारकर।
दल सहित जब जा रहे थे केंद्र पर॥
एक दाई घायलों के बीच में।
दिख पड़ी सोती रुधिर के कीच में॥
ध्यान से जयसिंह ने उसको लखा।
और फिर उसके हृदय पर कर रखा॥
हो विकल उसको जगाने वे लगे।
मर चुकी थी वह भला अब क्यों जगे॥
घायलों की वीर-सेवा में लगी।
और फिर प्रिय ध्यान में पति के पगी॥
गोलियों से शत्रु की भागी न थी।
चोट घातक झेल वह जागी न थी॥
शोक में जयसिंह कुछ बोले नहीं।
थे जहाँ बैठे रहे बैठे वहीं॥

दु:ख में अब घोर चिंता छागई।
प्रियतमा कैसे यहाँ कब आगई॥
आ गये उस काल सेनापति वहाँ।
वीर नारी की लखी शुभ गति वहाँ॥
वीर होकर भी हुई उनको व्यथा।
आदि से कहने लगे उसकी कथा॥
दाइयाँ कुछ आपके दल के लिये।
कुछ समय पहिले मुझे थीं चाहिये॥
की गई इसकी प्रकाशित सूचना।
देवकी ने शीघ्र भेजी प्रार्थना॥
दाइयों में इस तरह भरती हुई।
अंत लों निज काज यह करती हुई॥
शत्रु के अन्याय से मारी गई।
पायगा फल दुष्टता का निर्दई॥
हाल सुन जयसिंह का दुख बढ़ गया।
शत्रु पर अब क्रोध उनको चढ़ गया॥
सौंप कर मृत-देह सेनापति-निकट।
प्रण किया सब से उन्होंने यह विकट॥
भस्म जब मैं कर चुकूँगा रिपु-नगर।
तब पड़ेगी अग्नि इस प्रिय देह पर॥
और जो मैं ही मरूँ रिपु-हाथ में।
फूँकना मुझको प्रिया के साथ में॥
दूसरे दिन व्योम से जलता हुआ।
पर-कटे खगराज-सा चलता हुआ॥
केंद्र से कुछ दूर रव करके बड़ा।
युद्ध का नभ-यान आकर गिर पड़ा॥

नष्ट पुर को यान ने था कर दिया।
मार्ग रक्षित केंद्र का था धर लिया॥
किंतु रिपु का क्रोध गोला चल उठा।
और उसकी आग से यह जल उठा॥
साथ ही प्रेमी-युगल बुझकर जले।
और दोनों साथ ही जलकर चले॥
एक कंकण से बँधे थे वे यहाँ।
दूसरे से जा बँधे दोनों वहाँ॥
पर दिया था बुझ चुका यह आग से।
या बुझे उस दीप के अनुराग से॥
सैनिकों ने खींच इसमें से लिया।
उस पुरुष को देश का जो था दिया॥
प्रेम-बंधन जन्म-लय का सार है।
प्रेम-बंधन देश का उद्धार है॥
प्रेम-बंधन देवकी जयसिंह का।
तोप से भी रिपु न खंडित कर सका॥

—कामताप्रसाद गुरु.



(२५) रहीम के दोहे

(१) दोहे

अच्युत-चरन-तरंगिनी, शिव-सिर-मलति-माल।
हरि न बनायो सुरसरी, कीजो इंदव-भाल ॥ १ ॥

खैंचि चढ़नि, ढीली ढरनि, कहहु कौन यह प्रीति।
आज काल मोहन गही, बंस-दिया की रीति ॥ २ ॥

धूर धरत निज सीस पै, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि-पत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज ॥ ३ ॥

पसरि पत्र झंपहिं पितहिं, सकुचि देत ससि सीत।
कहु रहीम कुल कमल के, को बैरी को मीत ॥ ४ ॥

बड़े पेट के भरन को, है रहीम दुखि बाढ़ि।
याते हाथिहि हहरि कै, दिए दाँत द्वै काढ़ि ॥ ५ ॥

भलो भयो घर ते छुट्यो, हस्यो सीस परि खेत।
काके काके नवत हम, अपन पेट के हेत ॥ ६ ॥

मन से कहाँ रहीम प्रभु, दृग सो कहाँ दिवान।
देखि दृगन जो आदरै, मन तेहि हाथ बिकान ॥ ७ ॥

रहिमन अपने पेट सों, बहुत कह्यो समुझाय।
जो तू अनखाए रहे, तोसों को अनखाय ॥ ८ ॥

रहिमन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ ॥ ९ ॥

रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नाहिं गर्व को लेस।
भार धरैं संसार को, तऊ कहावत सेस ॥१०॥

रहिमन करि सम बल नहीं, मानत प्रभु की धाक।
दांत दिखावत दीन ह्वै, चलत घिसावत नाक ॥११॥

रहिमन यों सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखिया निरखि, आँखिन को सुख होत ॥१२॥

रहिमन राज सराहिए, ससि सम सुखद जो होय।
कहा बापुरो भानु है, तप्यो तरैयन खोय ॥१३॥

रहिमन रिस सहि तजत नहिं, बड़े प्रीति की पौरि।
मूकन मारत आवई, नींद बिचारि दौरि ॥१४॥

विरह रूप घन तुम भयो, अवधि आस उद्योत।
ज्यों रहीम भादों निसा, चमकि जात खद्योत ॥१५॥

हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर।
खैंचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर ॥१६॥

(२) बरवै

बंदहुँ बिघन-बिनासन, ऋधि-सिधि-ईस।
निर्मल बुद्धि-प्रकासन, सिसु-ससि-सीस ॥ १ ॥

ध्यावहुँ सोच-बिमोचन, गिरिजा-ईस।
नागाभरन त्रिलोचन, सुरसरि सीस ॥ २ ॥

ध्यावहुँ बिपद-बिदारन, सुवन-समीर।
खल-दानव-बन-जारन, प्रिय रघुबीर ॥ ३ ॥

पुन पुन बंदहुँ गुरु के पद-जलजात।
जिहि प्रताप तैं मन के, तिमिर बिलात ॥ ४ ॥

करत घुमड़ि घन घुरवा, मुरवा सोर।
लगि रह बिकसि अँकुरवा, नंदकिसोर ॥ ५ ॥

कहियो पथिक सँदिसवा, गहिके पाय।
मोहन तुम बिन तनकहु, रह्यो न जाय॥ ६॥

भज रे मन नँदनंदन, विपति-विदार।
गोपीजन-मन रंजन, परम उदार॥ ७॥

जदपि बसत है सजनी, लाखन लोग।
हरि बिन कित यह चित को, सुख संजोग॥ ८॥

इत बातन कछु होत न, कहो हजार।
सब ही तैं हँसि बोलत, नंदकुमार॥ ९॥

बन उपवन गिरि सरिता, जिती कठोर।
लगत देह से बिछुरे, नंद-किसोर॥१०॥

ज्यों चौरासी लाख मैं, मानुष देह।
त्योंही दुर्लभ जग मैं, सहज सनेह॥११॥

अति अद्भुत छवि-सागर, मोहन गात।
देखत ही सखि बूड़त, दृग-जलजात॥१२॥

बिन देखे कल नाहिन, यह अखियान।
पल पल कटत कलप सों, अहो सुजान॥१३॥

जब ते बिछुरे मितवा, कहु कस चैन।
रहत भर्यो हिय साँसन, आँसुन नैन॥१४॥

मनमोहन की सजनी, हँसि बतरान।
हिय कठोर कीजत पै, खटकत आन॥ १५॥

जब ते मोहन बिछुरे, कछु सुधि नाहिं।
रहे प्रान परि पलकनि, दृग मग माहिं॥१६॥

उझकि उझकि चित दिन दिन, हेरत द्वार।

जब, ते बिछुरे सजनी, नंदकुमार ॥१७॥
रे मन भज निसि बासर, श्री बलबीर।
जो बिन जाँचे टारत, जन की पीर ॥१८॥
सबै कहत हरि बिछुरे, उर धर धीर।
बौरी बाँझ न जानै, ब्यावर पीर ॥१९॥
समुझि मधुप कोकिल की, यह रसरीति।
सुनहु श्याम की सजनी, का परतीति ॥२०॥
मोहन जीवन प्यारे, कसि हित कीन।
दरसन ही कों तरफत, ये दृग मीन ॥२१॥
भजि मन राम सियापति, रघुकुल ईस।
दीनबंधु दुख टारन, कौसलधीस ॥२२॥
अहो सुधाधर प्यारे, नेह निचोर।
देखन ही कों तरसै, नैन चकोर ॥२३॥
आँखिन देखत सबही कहत सुधारि।
पै जग साँची प्रीत न, चातक टारि ॥२४॥

—अब्दुर्रहीम खानखाना



(२६) यमुना-वर्णन

(१)

तरनि-तनूजा-तट तमाल-तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाये॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप-वारन तीर कों सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥

(२)

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालनि-मध्य कुमुदिनी लगी रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा।
कै उमँगे प्रिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय कों टेरनि निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥

(३)

कै पिय-पद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज-तिय-गन-वदन-कमल की झलकत झाँईं।
कै ब्रज हरिपद-परस-हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्त्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमंडल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत॥

(४)

तिन पै जेहि छिन चंद-ज्योति राका निसि आवति।
जल मैं मिलिकै नभ अवनी लौं तान तनावति॥
होत मुकुर-मय सबै तबै उज्ज्वल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ावति देखि सुंदर सो सोभा॥
सो को कवि जो छबि कहि सकै ता छन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अंबर रहत छबि इकसी नभ तीर की॥

(५)

परत चंद-प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि-दरसन हेत चंद जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो॥
कै रास-रमन में हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति बसत ता प्रतिबिंब लखात है॥

(६)

कबहुँ होत सतचंद कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गगन बस बिंब रूप जल में बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलैं।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत किलोलैं॥
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोई ब्रज-रमनी जल आवती॥

(७)

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल ।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल ॥
कै कालिंदी नीर तरंग जितो उपजावत ।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत ॥
कै वहुत रजत चकई चलउ कै फुहार जल उच्छरत ।
कै निसिपति मल्ल अनेक-विधि उठि बैठत कसरत करत ॥

(८)

कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत ।
कहुँ कारंडव उड़त कहूँ जल-कुक्कुट धावत ॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत ।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत ॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर बिविध पंछी करत ।
जल-पान न्हान कर सुख भरे तट-सोभा सब जिय धरत ॥

(९)

कहूँ बालुका विमल सकल कोमल बहु छाई ।
उज्ज्वल झलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई ॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाये ।
रत्न-रासि करि चूर कूल में मनु बगराये ॥
मनु मुक्त माँग सोभित भरी, श्याम नीर चिकुरन परसि ।
सतगुन छायो कै तीर में, व्रज-निवास लखि हिय हरसि ॥

—हरिश्चंद्र

(२७) सुदामा-चरित्र

द्वारका जाहु जू द्वारका जाहु जू,
आठहु याम यही झक तेरे।
जौ न कहो करिये तौ बड़ो दुख,
पैहौं कहाँ अपनी गति हेरे।
द्वार खड़े प्रभु के छड़िया तहँ,
भूपति जान न पावत नेरे।
पाँच सुपारी तौ देखु विचारि के,
भेट को चारि न चामर मेरे॥

यह सुनि के तब ब्राह्मणी, गई परोसिन पास।
सेर पाव चामर लिये, आई सहित हुलास॥
सिद्धि करौ गणपति सुमिरि, बाँधि दुपटिया खूट।
चले जाहु तेहि मारगहि, माँगत बाली बूट॥

मंगल संगीत धाम धाम में पुनीत जहाँ,
नाचें वारवधू देवनारि अनुहारिका।
घंटन के नाद कहूँ बाजन के छाय रहे,
कहूँ कीर केकी पढ़ें सुक और सारिका।
रतनन ठाट हाट बाटंन में देखियत,
घूमें गज अश्व रथ पत्ति नर नारिका।
दशो दिशा भीर द्विज धरत न धीर मन,
उठत है पीर लखि वलवीर द्वारिका॥

दृष्टि चकचौंधि गई देखत सुवरनमयी,
एकते सरस एक द्वारका के भौन हैं।

पूछे बिन कोऊ काहू से न करै बात,
जहाँ देवता से बैठे सब साधि साधि मौन हैं।
देखत सुदामा धाय पुरजन गहे पाय,
कृपा करि कहो कहाँ कीने विप्र गौन हैं।
धीरज अधीर के हरण पर पीर के,
बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं॥

द्वारपाल चलि तहँ गयो, जहाँ कृष्ण यदुराय।
हाथ जोरि ठाड़ो भयो, बोल्यो शीश नवाय॥

शीश पगा न झँगा तन में प्रभु,
जानें को आहि बसै किहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु,
पाँय उपानह की नहिं सामा।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देखि,
रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
दीनदयालु को पूछत धाम,
बतावत आपनो नाम सुदामा॥

लोचन पूरि रहे जल सों प्रभु,
दूर ते देखत ही दुख मेट्यो।
सोच भयो सुरनायक के,
कलपद्रुम के हिय माँझ खसेट्यो।
काँपि कुबेर हिये सर से पग,
जात सुमेरहु रंक से सेट्यो।
राज भयो तबही जबही भरि,
अंग रमापति सों द्विज भेंट्यो॥

ऐसे बिहाल बिवायान सों भये,
कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय महा दुख पायो सखा,
तुम आये इतै न किते दिन खोये।
देखि सुदामा की दीन दशा,
करुणा करिके करुणानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं,
नैनन के जल सों पग धोये॥

तंदुल त्रिय दीने हुते, आगे धरियो जाय।
देखि राजसंपति विभव, दै नहिं सकत लजाय॥
अंतरयामी आप हरि, जानि भक्ति की रीति।
सुहृद सुदामा विप्र सों, प्रकट जनाई प्रीति॥
कछु भाभी हमको दियो, सो तुम काहे न देत।
चाँपि गाँटरी काँख में, रहे कहो किहि हेत॥

आगे चना गुरु मात दिये,
ते लिये तुम चाबि हमैं नहिं दीने।
श्याम कही मुसकाय सुदामा सों,
चोरि की बानि में हौ जु प्रवीने।
गाँठरी काँख में चाँपि रहे तुम,
खोलत नाहिं सुधारस भीने।
पाछिली बानि अजौ न तजी तुम,
वैसे ही भाभी के तंदुल कीने॥

खोलत सकुचत गाँठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरण पट फट छुटि परे, बिखरि गये तेहि ठोर॥

तंदुल माँगत मोहन विप्र,
सकोच ते देत नहीं अभिलाखे।
है नहिं पास कछू कहिके,
तहि गोपि घनी विधि काँख में राखे।
सो लखि दीनदयालु तहाँ
यह चोरी करी तुम यों हँसि भाखे।
खोलके पोट अछोट मुठी,
गिरिधारण चामर चाव सों चाखे॥

काँपि उठी कमला मन सोचत,
मों सों कहा हरि को मन ओंको।
ऋद्धि कँपी नवनिद्धि कँपी,
सब सिद्धि कँपी ब्रह्मनायक धोंको।
शोक भयो सुरनायक के,
जब दूसरी वार लयो भरि झोंको।
मेरु डरै बकसै जनि मोहि,
कुबेर चबावत चामर चोंको॥

हूल हियरा में क़ान कानन परी है टेर,
भेटत सुदामैं श्याम बनै न अघातहीं।
क़है नरोत्तम ऋद्धि-सिद्धिन में शोर भयो,
ठाढ़ी थरहरे और सोचे कमला तहीं।
नाग लोक लोक सब ओक ओक थोक थोक,
ठाढ़े थरहरैं मुख से कहैं न बातहीं।
हालो पर्‍यो लोकन में लालो पर्‍यो चक्रिन में,
चालो पर्‍यो लोगन में चामर चबातहीं॥

भौन भरे पकवान मिठाइन,
लोग कहैं निधि हैं सुखमा के।
साँझ सवेरे पिता अभिलाषत,
दाख न चाखत सिंधु रमा के।
ब्राह्मण एक कोऊ दुखिया,
सेर पावक चामर लायो समा के।
प्रीति की रीति कहा कहिये,
तिहि बैठे चबावत कंत रमा के॥

मूठी दुसरी भरत ही, रुक्मिनि पकरी बाँह।
ऐसी तुम्हें कहा भई, संपति की अनचाह॥
कही रुक्मिनी कान मेँ, यह धौं कौन मिलाप।
करत सुदामहि आपसों, होत सुदामा आप॥

हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहै,
नाथ कहा तुमने चित धारी।
तंदुल खाय मुठी दुइ दीन,
कियो तुमने दुइ लोक विहारी।
खाय मुठी तिसरी अब नाथ,
कहा निज वास की आस बिसारी।
रंकहि आप समान कियो तुम,
चाहत आपहि होन भिखारी॥

रूपे के रुचिर थार पायस सहित शोभा,
सब जीत लीनी शोभा शरद के चंद की।
दूसरे परोस्यो भात सान्यो है सुरभि घृत,
फूले फूले फुलके प्रफुल्लित दुति मंद की।

पापर मुँगौरी बरा बेसन अनेक भाँति,
देवता विलोकि शोभा भोजन अनंद की।
या विधि सुदामाजी को अच्छकै जिमाय,
फिर पाछेकै पछावरि परोसी आनि कंद की॥

कह्यो विश्वकर्मा को हरि तुम जाय करि,
नगर सुदामाजी को रचौ वेग अबही।
रतनजटित धाम सुवरणमयी सब,
कोट औ बजार बाग फूलन के तबही।
कल्पवृत्त द्वार गज रथ असवार प्यादे,
कीजिये अपार दास दासी देव छबही।
इंद्र औ कुबेर आदि देव वधू अपसरा,
गंधरब गुणी जहाँ ठाढ़े रहैं सबही॥

नित नित सब द्वारावती, दिखलाईं प्रभु आप।
भरे बाग अनुराग सब, जहाँ न व्यापहिं ताप॥
परम कृपा दिन दिन करी, कृपानाथ यदुराय।
मित्र भावना विस्तरी, दूनों आदर भाय॥

दाहिने वेद पढ़ैं चतुरानन,
सामुहे ध्यान महेश धर्यो है।
बायें दोऊ करजोर सुसेवक,
देवन साथ सुरेश खर्यो है।
एतन बीच अनेक लिये धन,
पायन आय कुबेर पर्यो है।
देखि विभो अपनो सपनो,
बपुरो वह ब्राह्मण चौंकि पर्यो है॥

देनो हुतो सो दे चुके, विप्र न जानी गाथ।
चलती बेर गुपालजी, कछू न दीनो हाथ॥
गोपुर लों पहुँचाय के, फिरे सकल दरबार।
मित्र वियोगी कृष्ण के, नेत्र चली जल-धार॥
हौं आवत नाहीं हुतौ, बामहि पठयो ठेल।
अब कहिहौं समुझाय के, बहु धन धरौ सकेल॥
बालापन के मित्र हैं, कहा देउँ मैं शाप।
जैसो हरि हमको दियो, तैसो पइयो आप॥
और कहा कहिये जहाँ, कंचन ही के धाम।
निपट कठिन हरि को हियो, मोको दियो न दाम॥
इमि सोचत सोचत झकत, आये निज पुर तीर।
दृष्टि परी इक बारहीं, हय गयंद की भीर॥

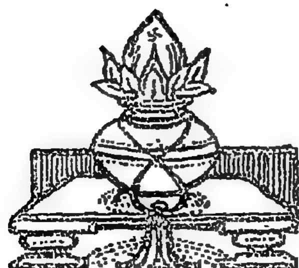
वेई सुरतरु प्रफुलित फुलवारिन में,
वेई सुरवर हंस बोलन हिलन को।
वेई हेम हिरन दिशान दहलीजन में,
वेई गजराज हय गरज गिलन को।
द्वार द्वार छड़ी लिये द्वारपौरिया जो खड़े,
बोलत मरोर बरजोर ज्यों झिलन को।
द्वारका ते चल्यो भूलि द्वारका ही आयो नाथ,
माँगिहूँ न माँपै चार चामर मिलन को॥

जगर मगर ज्योति छाय रही चहुँ दिशि,
अगर बगर हाथी घोड़न को शोर है।
चौपड़ को बन्यो है बजार पुनि सोनन के,
महल दुकान की कतार चहुँ ओर है।

भीड़भाड़ धकापेल चहुँ दिशि देखियत,
द्वारका ते दूनों यहाँ प्यादेन को जोर है।
रहिवो को ठाम है न काहू सों पिछान मेरी,
विन जाने वसे कोऊ द्वाड़ मेरे तोर है।

फूटी एक थारी विन टोंटनी की भारी हुती,
बाँस की पिटारी औ पथारी हुती टाटकी।
बेंटे विन छुरी औ कमंडलु हो टोकवो हो,
टूटो हतो पोपो पाटी टूटी एक खाटकी।
पथरोटा काठ को कठौता कहूँ दीसै नाहिं,
पीतर को लोटो हो कटोरो है न वाटकी।
कामरी फटी सी हुति डोड़न की माला नाक,
गोमती की माटी की न सुध कहूँ माटकी।

—नरोत्तमदास



(२८) दीनदयाल गिरि की कुंडलियाँ

जिन तरु को परिमल परसि, लियो सुजस सब ठाम।
तिन भंजन करि आपनो, कियो प्रभंजन नाम॥
कियो प्रभंजन नाम, बड़ो कृतघन बरजोरी।
जब जब लगि दवागि, दियो तब झोंकि झकोरी॥
बरनै दीनदयाल, सेउ अब खल थल मरु को।
ले सुख शीतल छाँह, तासु तोर्‌यो जिन तरु को॥ १॥

केतो सोम कला करो, करो सुधा को दान।
नहीं चंद्रमनि जो द्रवै, यह तेलिया पखान॥
यह तेलिया पखान, बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटी याके सीस, बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै दीनदयाल, चंद तुमही चित चेतो।
कूर न कोमल होहिँ, कला जो कीजे केतो॥ २॥

बरखै कहा पयोद इत, मानि मोद मन माहिँ।
यह तो ऊसर भूमि है, अंकुर जमिहै नाहिँ॥
अंकुर जमिहै नाहिँ, बरष शत जो जल दैहै।
गरजै तरजै कहा, वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल, न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना, बलाहक ह्याँ तू बरखै॥ ३॥

भौंरा अंत बसंत के, है गुलाब इहि रागि।
फिरि मिलाप अति कठिन है, या बन लगे दवागि॥
या बन लगे दवागि, नहीं यह फूल लहैगो।
ठौरहि ठौर अमात, बड़ो दुख तात सहैगो॥

बरनै दीनदयाल, किते दिन फिरिहै दौरा।
पछतैहै कर दये, गये ऋतु पीछे भौंरा ॥ ४ ॥

रंभा झूमत हौ कहा, थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गये, अरु ह्वै हैं यहि खेत ॥
अरु ह्वै हैं यहि खेत, मूल लघु साखा हीने।
ताहू पै गज रहै, दीठि तुम पै प्रति दीने ॥
बरनै दीनदयाल, हमैं लखि होत अचंभा।
एक जन्म के लागि, कहा झुकि झूमत रंभा ॥ ५ ॥

नाहीं भूलि गुलाब तू, गुनि मधुकर गुंजार।
यह बहार दिन चार की, बहुरि कटीली डार ॥
बहुरि कटीली डार, होहिगी ग्रीषम आये।
लुवैं चलेंगी संग, अंग सब जैहैं ताये ॥
बरनै दीनदयाल, फूल जौलों तो पाहीं।
रहे घेरि चहुँ फेरि, फेरि अलि ऐहैं नाहीं ॥ ६ ॥

टूटे नख रद केहरी, वह बल गयो थकाय।
हाय जरा अब आइ कै, यह दुख दियो बढ़ाय ॥
यह दुख दियो बढ़ाय, चहूँ दिसि जंबुक गाजैं।
ससक लोमरी आदि, स्वतंत्र करैं सब राजैं ॥
बरनै दीनदयाल, हरिन बिहरैं सुख लूटे।
पंगु भयो मृगराज, आज नख रद के टूटे ॥ ७ ॥

पैहो कीरति जगत में, पीछे धरो न पाँव।
छत्री कुल के तिलक हे, महासमर या ठाँव ॥

महासमर या ठाँव, चलै सर कुंत कृपानैं।
रहे वीरगण गाजि, पीर उर में नहिँ आनैं॥
बरनै दीनदयाल, हरखि जौ तेग चलैहो।
ह्वै हौ जीते जसी, मरे सुरलोकहिं पैहो॥ ८॥

भारी भार भर्‌यो बनिक, तरिबो सिंधु अपार।
तरी जरजरी फँसि परी, खेवनहार गँवार॥
खेवनहार गँवार, ताहि पर पौन झँकोरै।
रुकी भँवर में आय, उपाय चलै न करोरै॥
बरनै दीनदयाल, सुमिर अब तू गिरधारी।
आरत जन के काज, कला जिन निज संभारी॥ ९॥

आछी भाँति सुधारि कै, खेत किसान बिजोय।
न त पीछे पछुतायगो, समै गयो जब खोय॥
समै गयो जब खोय, नहीं फिरि खेती ह्वैहै।
लैहै हाकिम पोत, कहा तब ताको दैहै॥
बरनै दीनदयाल, चाल तजि तू अब पाछी।
सोउ न सालि सँभालि, बिहंगन तें विधि आछी॥१०॥

सोई देस विचारि कै, चलिये पथी सुचेत।
जाके जस आनंद की, कविवर उपमा देत॥
कविवर उपमा देत, रंक भूपति सम जामे।
आवागमन न होय, रहै मुद मंगल तामे॥
बरनै दीनदयाल, जहाँ दुख सोक न होई।
ए हो पथी प्रवीन, देस को जैयो सोई॥११॥

कोई संगी नहिं उतै, है इतही को संग।
पथी लेहु मिलि ताहि ते, सब सों सहित उमंग॥
सबसों सहित उमंग, बैठि तरनी के माहीं।
नदिया नाव सँयोग, फेरि यह मिलिहै नाहीं॥
बरनै दीनदयाल, पार पुनि भेंट न होई।
अपनी अपनी गैल, पथी जैहैं सब कोई॥१२॥

ग्राहैं प्रबल अगाध जल, या में तीछन धार।
पथी पार जो तू चहै, खेवनहार पुकार॥
खेवनहार पुकार, बार नहिं कोऊ साथी।
और न चलै उपाव, नाव बिन एहो पाथी॥
बरनै दीनदयाल, नहीं अब बूड़े थाहैं।
रहे महासुख बाय, ग्रसन को भारी ग्राहैं॥१३॥

राही सोवत इत किते, चोर लगैं चहुँ पास।
तो निज धन के लेन को, गिनैं नींद की स्वास॥
गिनैं नींद की स्वास, वास बसि तेरे डेरे।
लिये जात बनि मीत, माल ये साँझ सबेरे॥
बरनै दीनदयाल, न चीन्हत है तू ताही।
जाग जाग रे जाग, इतै कित सोवत राही॥१४॥

हारे भूलि गैल मैं, गे अति पाँय पिराय।
सुनो पथी अब तो रह्यो, थोरो सो दिन आय॥
थोरो सो दिन आय, रहे हैं संग न साथी।
या बन हैं चहुँ ओर, घोर मतवारे हाथी॥
बरनै दीनदयाल, ग्राम सामीप तिहारे।
सूधे पथ को जाहु, भूलि भरमो कित हारे॥१५॥

चारो दिसि सूझै नहीं, यह नद धार अपार।
नाव जर्जरी भार बहु, खेवनहार गँवार॥
खेवनहार गँवार, ताहि पर है मतवारो।
लिये भौंर में जाय, जहाँ जलजंतु अखारो॥
बरनै दीनदयाल, पथी बहु पौन प्रचारो।
पाहि पाहि रघुबीर, नाम धरि धीर उचारो॥१६॥

—दीनदयाल गिरि



(२६) गंगा-वर्णन

नव-उज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥

लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

सुभग-स्वर्ग-सोपान-सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥

श्री हरिपद-नख-चंद्रकांत-मनि-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म-कमंडल-मंडन, भव-खंडन सुर-सरबस॥

शिव-सिर-मालति-माल, भगीरथ-नृपति-पुन्य-फल।
ऐरावत-गज गिरि-पति-हिम-नग-कंठहार कल॥

सगर-सुवन सत सहस परस जल मात्र उधारण।
अगिनित धारा रूप धारि सागर संचारण॥

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हू नहिं तजी, रही अंकम लपटाई॥

कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत॥

धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥

मधुरी नौवत बजत, कहूँ नारी-नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥

कहुँ सुंदरि नहात वारि कर-जुगल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥

धोवति सुंदरि वदन करन अति ही छबि पावत।
वारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत॥

सुंदरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत।
कमलबेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥

दीठि जहाँ जहँ जात रहत तितही ठहराई।
गंगा छवि हरिचंद कछू बरनी नहिं जाई॥

—हरिश्चंद्र



(३०) राम-बन-गमन

बरबस राम सुमंत्रु पठाए।
सुरसरि-तीर आप तब आए॥
माँगी नाव, न केवट आना।
कहै तुम्हार मरमु मैं जाना॥
चरन-कमल-रज कहँ सबु कहई।
मानुषकरनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई।
पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउँ मुनिघरनी होइ जाई।
बाट परै मोरि नाव उड़ाई॥
एहि प्रतिपालौं सबु परिवारू।
नहिं जानौं कछु और कबारू॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू।
मोहि पद-पदुम पखारन कहहू॥

छंद—पद-कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं॥
बरु तीर मारहु लषनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास-नाथ कृपालु पारु उतारिहौं॥

सोरठा—सुनि केवट के बयन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना-अयन, चितै जानकी-लषन-तन॥

कृपासिंधु बोले मुसुकाई।
सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥

बेगि आनु जल पाय पखारू।
होत बिलंब, उतारहि पारू॥
जासु नाम सुमिरत एक बारा।
उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा।
जेहि जगु किए तिहुँ पगहुँ ते थोरा॥
पदनख निरखि देवसरि हरषी।
सुनि प्रभुवचन मोह मति करषी॥
केवट राम-रजायसु पावा।
पानि कठवता भरि लेइ आवा॥
अति आनंद उमगि अनुरागा।
चरन-सरोज पखारन लागा॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं।
एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं॥

दोहा—पद पखारि जलु पान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहिं पुनि, मुदित गयेउ लेइ पार॥

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि-रेता।
सीय रामु गुह लषन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा।
प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय-हिय की सिय जाननिहारी।
मनिमुँदरी मन-मुदित उतारी॥
कहेउ कृपाल लेहिं उतराई।
केवट चरन गहे अकुलाई॥

नाथ आजु मैं काह न पावा।
मिटे दोष-दुख-दारिद-दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी।
आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें।
दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥
फिरती बार मोहि जो देबा।
सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा॥

दोहा—बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय, नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बरु देइ॥

तब मज्जनु करि रघुकुल-नाथा।
पूजि पारथिव नायेउ माथा॥
सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी।
मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥
पति-देवर-सँग कुसल बहोरी।
आइ करौं जेहिं पूजा तोरी॥
सुनि सिय-बिनय प्रेम-रस-सानी।
भइ तब बिमल बारि बरबानी॥
सुनु रघु-बीर-प्रिया बैदेही।
तव प्रभाउ जग बिदित न केही॥
लोकप होहिं बिलोकत तोरें।
तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें॥
तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई।
कृपा कीन्हि, मोहि दीन्हि बड़ाई॥

तदपि, देवि मैं देवि असीसा।
सफल होन हित निज बागीसा॥ ४

दोहा—प्राननाथ देवर सहित, कुसल कोसला आइ।
पूजिहि सब मनकामना, सुजसु रहिहि जग छाइ॥

गंगबचन सुनि मंगलमूला।
मुदित सीय सुरसरि अनुकूला॥
तब प्रभु गुहहिं कहेउ घर जाहू।
सुनत सूख मुखु भा उर दाहू॥ १
दीन बचन गुह कह कर जोरी।
बिनय सुनहु रघु-कुल-मनि मोरी॥
नाथ साथ रहि पंथु देखाई।
करि दिन चारि चरन-सेवकाई॥ २
जेहि बन जाइ रहब रघुराई।
परनकुटी मैं करबि सुहाई॥
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई।
सोइ करिहौं रघु-बीर-दोहाई॥ ३
सहज सनेह राम लखि तासू।
संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू॥
पुनि गुह ग्याति बोली सब लीन्हे।
करि परितोषु बिदा तब कीन्हे॥ ४

दोहा—तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु, नाइ सुरसरिहि माथ।
सखा-अनुज-सिय-सहित बन, गवनु कीन्ह रघुनाथ॥

तेहि दिन भयेउ बिटप तर बासू।
लषन सखा सब कीन्ह सुपासू॥

प्रात प्रातकृत करि रघुराई।
तीरथराजु दीख प्रभु जाई॥
सचिव सत्य स्रद्धा प्रिय नारी।
माधव-सरिस मीतु हितकारी॥
चारि पदारथ भरा भँडारू।
पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥
छेत्रु अगम गढु गाढ़ सुहावा।
सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा।
कलुष-अनीक-दलन रनधीरा॥
संगमु-सिंहासन सुठि सोहा।
छत्रु अषयवट मुनिमनु मोहा॥
चवँर जमुन अरु गंग तरंगा।
देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥

दोहा—सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन-काम।
बंदी बेद-पुरान-गन, कहहिं बिमल गुनग्राम॥

को कहि सकै प्रयाग-प्रभाऊ।
कलुष-पुंज-कुंजर-मृग-राऊ॥
अस तीरथपति देखि सुहावा।
सुखसागर रघुबर सुखु पावा॥
कहि सिय लषनहि सखहि सुनाई।
श्रीमुख तीरथ-राज-बड़ाई॥
करि प्रनामु देखत बन बागा।
कहत महातम अति अनुरागा॥

एहि विधि आइ बिलोकी बेनी।
सुमिरत सकल-सुमंगल-देनी॥
मुदित नहाइ कीन्हि सिव-सेवा।
पूजि जथाबिधि तीरथ-देवा॥
तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए।
करत दंडवत मुनि उर लाए॥
मुनि-मन-मोद न कछु कहि जाई।
ब्रह्मानंद-रासि जनु पाई॥

दोहा—दीन्हि असीस, मुनीस उर, अति अनंदु अस जानि।
लोचन-गोचर सुकृत-फल, मनहुँ किए विधि आनि॥

कुसल प्रस्न करि आसन दीन्हे।
पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हे॥
कंद मूल फल अंकुर नीके।
दिए आनि मुनि मनहुँ अमी के॥
सीय-लषन-जन-सहित सुहाए।
अति रुचि राम मूल फल खाए॥
भए विगतस्रम राम सुखारे।
भरद्वाज मृदु वचन उचारे॥
आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू।
आजु सफलु जपु जोग विरागू॥
सफल सकल-सुभ-साधन साजू।
राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥
लाभ-अवधि सुभ-अवधि न दूजी।
तुम्हरें दरस आस सब पूजी॥

अब करि कृपा देहु वर एहू।
निज-पद-सरसिज सहज सनेहू॥

दोहा—करम वचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं, किए कोटि उपचार।

सुनु मुनि-वचन राम सकुचाने।
भाव भगति आनंद अघाने॥
तब रघुवर मुनि सुजस सुहावा।
कोटि भाँति कहि सबहि सुनावा॥ १
सो बड़ सो सब-गुन-गन-गेहू।
जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥
मुनि रघुबीर परसपर नवहीं।
वचन-अगोचर सुख अनुभवहीं॥ २
यह सुधि पाइ प्रयाग-निवासी।
बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी॥
भरद्वाज-आश्रम सब आए।
देखन दसरथ-सुअन सुहाए॥ ३
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू।
मुदित भए लहि लोयन-लाहू॥
देहिं असीस परम सुखु पाई।
फिरे सराहत सुंदरताई॥ ४

दोहा—राम कीन्ह बिस्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लषन जनु, मुदित मुनिहिं सिरु नाइ॥

राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं।
नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं॥

मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीं।
सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं॥ १
साथ लागि मुनि सिष्य बोलाए।
सुनि मन मुदित पचासक आए॥
सबन्हि राम पर प्रेम अपारा।
सकल कहहिं मगु दीख हमारा॥ २
मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे।
जिन्ह बहु जनम सुकृत सब कीन्हे॥
करि प्रनामु रिषि आयसु पाई।
प्रमुदित हृदय चले रघुराई॥ ३
ग्राम निकट जब निकसहिं जाई।
देखहिं दरसु नारिनर धाई॥
होहिं सनाथ जनमफलु पाई।
फिरहिं दुखित मनु संग पठाई॥ ४

दोहा—बिदा किए बटु बिनय करि, फिरे पाइ मनकाम।
उतरि नहाए जमुनजल, जो सरीरसम स्याम॥

सुनत तीरवासी नरनारी।
धाए निज निज काज बिसारी॥
लषन-राम-सिय-सुंदरताई।
देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई॥ १
अति लालसा सबहिं मन माहीं।
नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं॥
जे तिन्ह महुँ बयबिरिध सयाने।
तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने॥ २

सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई।
बनहि चले पितु-आयसु पाई॥
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं।
रानी राय कीन्ह भल नाहीं॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे।
जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥
राम-लषन-सिय-रूप निहारी।
होहिं सनेह बिकल नरनारी॥

दोहा—तब रघुबीर अनेक बिधि, सखहि सिखावन दीन्ह।
राम-रजायसु सीस धरि, भवन गवनु तेइ कीन्ह॥

पुनि सिय राम लषन कर जोरी।
जमुनहिं कीन्ह प्रनामु बहोरी॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई।
रबितनुजा कै करत बड़ाई॥
पथिक अनेक मिलहिं मगु जाता।
कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता॥
राज-लषन सब अंग तुम्हारे।
देखि सोचु अति हृदय हमारे॥
मारग चलहु पयादेहि पाएँ।
ज्योतिषु झूठ हमारेहि भाएँ॥
अगमु पंथ गिरि कानन भारी।
तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी॥
करि केहरि बन जाइ न जोई।
हम सँग चलहिं जो आयसु होई॥

जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई।
फिरब बहोरि तुम्हहिं सिरु नाई॥

दोहा—एहि विधि पूँछहिं प्रेम बस, पुलक गात जलु नैन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहिं, कहि विनीत मृदु बैन॥

जे पुर गाँव बसहिं मग माहिं।
तिन्हहिं नाग-सुर-नगर सिहाहीं॥
केहि सुकृती केहि घरी बसाए।
धन्य पुन्यमय परम सुहाए॥
जहँ जहँ रामचरन चलि जाहीं।
तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥
पुन्यपुंज मग-निकट-निवासी।
तिन्हहिं सराहहिं सुर-पुर-वासी॥
जे भरि नयन विलोकहिं रामहिं।
सीता-लषन-सहित घनस्यामहिं॥
जे सर सरित राम अवगाहहिं।
तिन्हहिं देव-सर-सरित सराहहिं॥
जेहि तरुतर प्रभु बैठहिं जाई।
करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥
परसि राम-पद-पदुम-परागा।
मानति भूमि भूरि निज भागा॥

दोहा—छाँह करहिं घन विबुधगन, बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि बन विहँग मृग, रामु चले मग जाहिं॥

सीता-लषन-सहित रघुराई।
गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥

सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी।
चलहिं तुरत गृह-काज बिसारी॥
राम-लषन सिय-रूप निहारी।
पाइ नयनफलु होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा।
सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी।
लहि जनु रंकन्हि सुर-मनि-ढेरी॥
एकन्हि एक बोलि सिख देही।
लोचन-लाहु लेहु छन एही॥
रामहिं देखि एक अनुरागे।
चितवत चले जाहिं सँग लागे॥
एक नयनमग छबि उर आनी।
होहिं सिथिल तन मन बरबानी॥

दोहा—एक देखि बट छाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गवाँइअ छिनुक स्रम, गवनब अबहिं कि प्रात॥

एक कलस भरि आनहिं पानी।
अँचइअ नाथ कहहिं मृदुबानी॥
सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी।
राम कृपालु सुसील बिसेखी॥
जानी स्रमित सीय मन माहीं।
घरिक बिलंबु कीन्ह बट-छाहीं॥
मुदित नारिनर देखहिं सोभा।
रूप अनूप नयन मनु लोभा॥

एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा।
रामचंद्र-मुख-चंद-चकोरा ॥
तरुन-तमाल-बरन तनु सोहा।
देखत कोटि-मदन-मनु मोहा ॥
दामिनि-बरन लषनु सुठि नीके।
नखसिख सुभग भावते जी के ॥
मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा।
सोहहिं कर कमलनि धनु तीरा ॥

दोहा—जटा मुकुट सीसनि सुभग, उर भुज नयन बिसाल।
सरद-परब-बिधु-बदन वर, लसत स्वेद-कन-जाल ॥

बरनि न जाइ मनोहर जोरी।
सोभा बहुत, थोरि मति मोरी ॥
राम-लषन-सिय-सुंदरताई ।
सब चितवहिं चित मन मति लाई ॥
थके नारी नर प्रेम-पिआसे।
मनहुँ मृगी मृग देखि दिआसे ॥
सीय-समीप ग्राम-तिय जाहीं।
पूछत अति सनेह सकुचाहीं ॥
बार बार सब लागहिं पाएँ।
कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ ॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं।
तिय सुभाय कछु पूछत डरहीं ॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी।
बिलगु न मानब जानि गवाँरी ॥

राजकुँअर दोउ सहज सलोने।
इन्ह तें लहि दुति मरकत सोने॥

दोहा—स्यामल गौर किसोर वर, सुंदर सुखमा अयन।
सरद-सर्वरी-नाथ-मुख, सरद-सरोरुह-नयन॥

कोटि-मनोज-लजावनिहारे।
सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी।
सकुची सिय, मन महुँ मुसुकानी॥ 1
तिनहिं बिलोकि बिलोकति धरनी।
दुहुँ सकोच सकुचति वरवरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल-मृग-नयनी।
बोली मधुरवचन पिकबयनी॥ २
सहज सुभाय सुभग तन गोरे।
नामु लषनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु-बिधु अंचल ढाँकी।
पियतन चितै भौंह करि बाँकी॥ ३
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥
भईं मुदित सब ग्राम-बधूटीं।
रंकन्ह रायरासि जनु लूटीं॥ ४

दोहा—अति सप्रेम सिय पायँ परि, बहु बिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह, जब लगि महि अहिसीस॥

पारबती-सम पतिप्रिय होहू।
देबि न हम पर छाँड़ब छोहू॥

पुनि पुनि विनय करिअ कर जोरी।
जौं एहि मारग फिरिअ बहोरी॥
दरसनु देव जानि निज दासी।
लखी सीय सब प्रेम-पिआसी॥
मधुर वचन कहि कहि परितोषीं।
जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषीं॥
तबहिं लषन रघुबर-रुख जानी।
पूछेउ मगु लोगन्हि मृदुबानी॥
सुनत नारिनर भए दुखारी।
पुलकित गात, बिलोचन बारी॥
मिटा मोद, मन भए मलीने।
विधि निधि दीन्हि लेत जनु छीने॥
समुझि करम-गति धीरजु कीन्हा।
सोधि सुगम मगु तिन्ह कहि दीन्हा॥

दोहा—लषन-जानकी-सहित तब, गवनु कीन्ह रघुनाथ।
फेरे सब प्रिय वचन कहि, लिए लाइ मन साथ॥

फिरत नारिनर अति पछिताहीं।
दैअहि दोषु देहिं मन माहीं॥
सहित विषाद परसपर कहहीं।
विधि-करतब उलटे सब अहहीं॥
निपट निरंकुस निठुर निसंकू।
जेहिं ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥
रुख कलपतरु, सागरु खारा।
तेहि पठए बन राजकुमारा॥

जौं पै इन्हहिं दीन्ह बनबासू।
कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू॥
ए बिचरहिं मग बिनु पदत्राना।
रचे बादि बिधि बाहन नाना॥ ३
ए महि परहिं डासि कुसपाता।
सुभग सेज कत सृजत बिधाता॥
तरु-बर-बास इन्हहिं बिधि दीन्हा।
धवल धाम रचि रचि स्रमु कीन्हा॥ ४

दोहा—जौं ए मुनि-पट-धर जटिल, सुंदर सुठि सुकुमार।
बिबिध भाँति भूषन बसन, बादि किए करतार॥

जौं ए कंद मूल फल खाहीं।
बादि सुधादि असन जग माहीं॥
एक कहहिं ए सहज सुहाए।
आप प्रगट भए बिधि न बनाए॥ १
जहँ लगि बेद कही बिधिकरनी।
स्रवन नयन मन गोचर बरनी॥
देखहु खोजि भुवन दस-चारी।
कहँ अस पुरुष, कहाँ असि नारी॥ २
इन्हहिं देखि बिधि मनु अनुरागा।
पटतर जोग बनावै लागा॥
कीन्ह बहुत स्रम एक न आए।
तेहि इरिषा बन आनि दुराए॥ ३
एक कहहिं हम बहुत न जानहिं।
आपुहिं परम धन्य करि मानहिं॥

ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे।
जे देखहिं, देखिहहिं, जिन्ह देखे॥

दोहा—एहि बिधि कहि कहि वचन प्रिय, लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहहिं मारग अगम, सुठि सुकुमार सरीर॥

नारि सनेह-बिकल बस होहीं।
चकई साँझ समय जनु सोहीं॥
मृदु-पद-कमल कठिन मगु जानी।
गहबरि हृदय कहैं बर बानी॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे।
सकुचति महि जिमि हृदय हमारे॥
जौं जगदीस इन्हहिं बनु दीन्हा।
कस न सुमनमय मारगु कीन्हा॥
जौं माँगा पाइअ बिधि पाहीं।
ए रखिअहि सखि आँखिन्ह माहीं॥
जे नरनारि न अवसर आए।
तिन्ह सिय रामु न देखन पाए॥
सुनि सुरूप बूझहिं अकुलाई।
अब लगि गए कहाँ लगि, भाई॥
समरथ धाइ बिलोकहिं जाई।
प्रमुदित फिरहिं जनमफलु पाई॥

दोहा—अबला बालक बृद्धजन, कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेमबस लोग इमि, रामु जहाँ जहँ जाहिं॥

गाँव गाँव अस होइ अनंदू।
देखि भानु-कुल-कैरव-चंदू॥

जे कछु समाचार सुनि पावहिं।
ते नृपरानिहिं दोषु लगावहिं॥ १
कहहिं एक अति भल नरनाहू।
दीन्ह हमहिं जेइ लोचन-लाहू॥
कहहिं परसपर लोग लुगाईं।
बातैं सरल सनेह सुहाईं॥ २
ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाए।
धन्य सो नगरु जहाँ तें आए॥
धन्य सो देसु सैलु बन गाऊँ।
जहँ जहँ जाहिं धन्य सोइ ठाऊँ॥ ३
सुख पायेउ विरंचि रचि तेही।
ए जेहि के सब भाँति सनेही॥
राम-लषन-पथि-कथा सुहाई।
रही सकल मग-कानन छाई॥

दोहा—एहि बिधि रघु-कुल-कमल-रवि, मग-लोगन्ह सुख देत।
जाहिं चले देखत बिपिन, सिय-सौमित्रि-समेत॥

आगें रामु लषन बने पाछें।
तापस-बेष बिराजत काछें॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें।
ब्रह्म-जीव-बिच माया जैसें॥ १
बहुरि कहौं छबि जसि मन बसई।
जनु मधु-मदन-मध्य रति लसई॥
उपमा बहुरि कहौं जिअ जोही।
जनु बुध-बिधु-बिच रोहिनि सोही॥ २

प्रभु-पद-रेख बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता॥
सीय-राम-पद-अंक बराएँ।
लषन चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥
राम-लषन-सिय-प्रीति सुहाई।
बचन-अगोचर, किमि कहि जाई॥
खग मृग मगन देखि छबि होहीं।
लिए चोरि चित राम-बटोहीं॥

दोहा—जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय, सिय-समेत दोउ भाइ।
भव-मगु-अगमु अनंदु तेइ, बिनु स्रम रहे सिराइ॥

अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ।
बसहिं लषन-सिय-राम बटाऊ॥
राम-धाम-पथ पाइहि सोई।
जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥
तब रघुबीर स्रमित सिय जानी।
देखि निकट बटु सीतल पानी॥
तहँ बसि कंद मूल फल खाई।
प्रात नहाइ चले रघुराई॥
देखत बन सर सैल सुहाए।
बालमीकि आश्रम प्रभु आए॥
रामु दीख मुनि-बास सुहावन।
सुंदर गिरि काननु जलु पावन॥
सरनि सरोज बिटप बन फूले।
गुंजत मंजु मधुप रस-भूले॥

खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं।
बिरहित-बैर मुदित मन चरहीं॥ ४

दोहा—सुचि सुंदर आस्रमु निरखि, हरषे राजिवनैन।
सुनि रघु-बर-आगमनु मुनि, आगे आयेउ लैन॥

मुनि कहँ राम दंडवत कीन्हा।
आसिरबादु बिप्रवर दीन्हा॥
देखि राम-छबि नयन जुड़ाने।
करि सनमानु आस्रमहिं आने॥ १
मुनिवर अतिथि प्रानप्रिय पाए।
कंद मूल फल मधुर मँगाए॥
सिय सौमित्रि राम फल खाए।
तब मुनि आसन दिए सुहाए॥ २
बालमीकि मन आनँदु भारी।
मंगल-मूरति नयन निहारी॥
तब कर-कमल जोरि रघुराई।
बोले बचन स्रवन-सुखदाई॥ ३
तुम्ह त्रि-काल दरसी मुनिनाथा।
बिस्व बदर जिमि तुम्हरें हाथा॥
अस कहि प्रभु सब कथा बखानी।
जेहि जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी॥ ४

दोहा—तात-बचन पुनि मातु-हित, भाइ भरत अस राउ।
मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु, सबु मम पुन्य प्रभाउ॥

देखि पायँ मुनिराय तुम्हारे।
भए सुकृत सब सुफल हमारे॥

अब जहँ राउर आयसु होई।
मुनि उदबेगु न पावै कोई॥
मुनि तापस जिन्ह तें दुखु लहहीं।
ते नरेस बिनु पावक दहहीं॥
मंगल-मूल बिप्र-परितोषू।
दहै कोटि कुल भू-सुर-रोषू॥
अस जिय जानि कहिअ सोइ ठाऊँ।
सिय-सौमित्रि-सहित जहँ जाऊँ॥
तहँ रचि रुचिर परन-तृन-साला।
बास करौं कछु काल कृपाला॥
सहज सरल सुनि रघुबर-बानी।
साधु साधु बोले मुनि ग्यानी॥
कस न कहहु अस रघु-कुल-केतू।
तुम्ह पालक संतत श्रुति-सेतू॥

छंद—श्रुति-सेतु-पालक राम तुम्ह जगदीस-माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपा-निधान की॥
जो सहससीसु अहीसु महि-धरु लषनु स-चराचर-धनी।
सुर-काज धरि नरराज तनु चले दलन खल-निसिचर-अनी॥

सोरठा—राम सरूप तुम्हार, बचन-अगोचर बुद्धि-पर।
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे।
बिधि-हरि-संभु-नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा।
अउरु तुम्हहि को जाननिहारा॥

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन।
जानहिं भगत भगत-उर-चंदन॥ 2
चिदानंदमय देह तुम्हारी।
विगत-बिकार जान अधिकारी॥
नरतनु धरेहु संत-सुर-काजा।
कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥ 3
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे।
जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा।
जस काछिअ तस चाहिअ नाँचा॥ 4

दोहा—पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि, तुम्हहिं देखावौं ठाउँ॥

सुनि मुनि-बचन प्रेमरस-साने।
सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने॥
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी।
बानी मधुर अमिअ-रस-बोरी॥ 1
सुनहु राम अब कहौं निकेता।
जहाँ बसहु सिय-लषन-समेता॥
जिन्ह के स्रवन समुद्र-समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ 2
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।
तिन्ह के हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे॥

लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दरस-जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी।
रूपबिंदु-जल होहिं सुखारी॥
तिन्ह के हृदय-सदन सुखदायक।
वसहु वंधु-सिय-सह रघुनायक॥

दोहा—जस तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुकुताहल गुनगन चुनै, राम वसहु हिय तासु॥

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुवासा।
सादर जासु लहै नित नासा॥
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं।
प्रभु-प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
सीस नवहिं सुर-गुरु-द्विज देखी।
प्रीति-सहित करि विनय विसेखी॥
कर नित करहिं रामपद-पूजा।
राम-भरोस हृदय नहिं दूजा॥
चरन रामतीरथ चलि जाहीं।
राम वसहु तिन्ह कें मन माहीं॥
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा।
पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा॥
तरपन होम करहिं विधि नाना।
विप्र जेवाँइ देहिं वहु दाना॥
तुम्ह तें अधिक गुरहि जिअ जानी।
सकल भाय सेवहिं सनमानी॥

दोहा—सबु करि माँगहिं एकु फलु, राम-चरन-रति होउ।
तिन्ह के मन-मंदिर बसहु, सिय रघुनंदन दोउ॥

काम कोह मद मान न मोहा।
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया।
तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया॥
सब के प्रिय, सब के हितकारी।
दुख-सुख-सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।
जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं।
राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
जननी-सम जानहिं पर-नारी।
धनु पराव बिष तें बिष भारी॥
जे हरषहिं पर-संपति देखी।
दुखित होहिं पर-बिपति बिसेखी॥
जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान-पिआरे।
तिन्ह के मन सुभसदन तुम्हारे॥

दोहा—स्वामि सखा पितु मातु गुर, जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन-मंदिर तिन्ह के बसहु, सीय-सहित दोउ भ्रात॥

अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।
बिप्र-धेनु-हित संकट सहहीं॥
नीति-निपुन जिन्ह कइ जग लीका।
घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका॥

गुन तुम्हार समुझै निज दोषा।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
राम-भगत प्रिय लागहिं जेही।
तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई।
प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहिं रहै लउ लाई।
तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥
सरगु नरकु अपवरगु समाना।
जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥
करम-बचन-मन राउर चेरा।
राम करहु तेहि के उर डेरा॥

दोहा—जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु॥

एहि विधि मुनिवर भवन देखाए।
बचन सप्रेम राम-मन भाए॥
कह मुनि सुनहु भानु-कुल-नायक।
आस्रमु कहौं समय-सुखदायक॥
चित्रकूट गिरि करहु निवासू।
तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥
सैलु सुहावन, कानन चारू।
करि-केहरि-मृग-विहँग-विहारू॥
नदी पुनीत पुरान बखानी।
अत्रि-प्रिया निज-तप-बल आनी॥

सुरसरि-धार नाउँ मंदाकिनि।
जो सब पातक-पोतक-डाकिनि॥ 2
अत्रि आदि मुनि-बर बहु बसहीं।
करहिं जोग जप तप तन कसहीं॥
चलहु सफल स्रम सब कर करहू।
राम देहु गौरव गिरिबरहू॥ 4

दोहा—चित्र-कूट-महिमा अमित, कही महामुनि गाइ।
आइ नहाए सरित बर, सिय-समेत दोउ भाइ॥ 132

रघुबर कहेहु लषन भल घाटू।
करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू॥
लषनु दीख पय उतर करारा।
चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥ 1
नदी पनच-सर सम दम दाना।
सकल कलुष कलि-साउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी।
चुकै न घात मार मुठभेरी॥ २
अस कहि लषन ठाँव देखरावा।
थल बिलोकि रघुबर सुख पावा॥
रमेउ राम-मनु देवन्ह जाना।
चले सहित सुरपति परधाना॥ 3
कोल-किरात-वेष सब आए।
रचे परन-तृन-सदन सुहाए॥
बरनि न जाहिं मंजु दुइ साला।
एक ललित लघु एक बिसाला॥ 4

दोहा—लषन-जानकी-सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत।
सोह मदन मुनि-वेष जनु, रति-रितुराज-समेत॥

अमर नाग किन्नर दिसिपाला।
चित्रकूट आए तेहि काला॥
राम प्रनामु कीन्ह सब काहू।
मुदित देव लहि लोचन लाहू॥ १
बरषि सुमन कह देव-समाजू।
नाथ सनाथ भए हम आजू॥
करि बिनती दुख दुसह सुनाए।
हरषित निज निज सदन सिधाए॥ २
चित्रकूट रघुनंदनु छाए।
समाचार सुनि सुनि मुनि आये॥
आवत देखि मुदित मुनिवृंदा।
कीन्ह दंडवत रघु-कुल-चंदा॥ ३
मुनि रघुवरहिं लाइ उर लेहीं।
सुफल होन हित आसिष देहीं॥
सिय-सौमित्रि-राम छवि देखहिं।
साधन सकल सफल करि लेखहिं॥ ४

दोहा—जथा जोग सनमानि प्रभु, बिदा किए मुनिवृंद।
करहिं जोग जप जाग तप, निज आस्रमनि सुछंद॥

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई।
हरषे जनु नवनिधि घर आई॥
कंद मूल फल भरि भरि दोना।
चले रंक जनु लूटन सोना॥

तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता।
अपर तिन्हहिं पूछहिं मगु जाता॥
कहत सुनत रघुबीर-निकाई।
आइ सबन्हिं देखे रघुराई॥ २
करहिं जोहारु भेंट धरि आगे।
प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े।
पुलक सरीर, नयन जल बाढ़े॥ ३
राम सनेह-मगन सब जाने।
कहि प्रिय बचन सकल सनमाने॥
प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी।
बचन बिनीत कहहिं कर जोरी॥ ४

दोहा—अब हम नाथ सनाथ सब, भए देखि प्रभु पाय।
भाग हमारे आगमनु, राउर कोसलराय॥ १२

धन्य भूमि बन पंथ पहारा।
जहँ जहँ नाथ पाउ तुम धारा॥
धन्य बिहँग मृग काननचारी।
सफल जनम भए तुम्हहिं निहारी॥ १
हम सब धन्य सहित परिवारा।
दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा॥
कीन्ह बासु भल ठाउँ बिचारी।
इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥ २
हम सब भाँति करब सेवकाई।
करि केहरि अहि बाघ बराई॥

वन बेहड़ गिरि कंदर खोहा।
सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥
जहँ तहँ तुमहिं अहेर खेलाउब।
सर निरझर भल ठाउँ देखाउब॥
हम सेवक परिवार समेता।
नाथ न सकुचब आयसु देता॥

दोहा—वेदवचन-मुनिमन-अगम, ते प्रभु करुना-अयन।
वचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक-बयन॥

रामहिं केवल प्रेमु पियारा।
जानि लेउ जो जाननिहारा॥
राम सकल वन-चर तब तोषे।
कहि मृदु वचन प्रेम परिपोषे॥
बिदा किए सिरु नाइ सिधाए।
प्रभु-गुन कहत सुनत घर आए॥
एहि बिधि सिय समेत दोउ भाई।
बसहिं बिपिन सुर-मुनि-सुखदाई॥
जब तें आइ रहे रघुनायक।
तब तें भयेउ बनु मंगल-दायक॥
फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना।
मंजु-बलित-बर-बेलि-बिताना॥
सुर-तरु-सरिस सुभाय सुहाए।
मनहुँ बिबुध-वन परिहरि आए॥
गुंज मंजुतर मधुकर-स्रेनी।
त्रिबिध बयारि बहै सुखदेनी॥

दोहा—नीलकंठ कलकंठ सुक, चातक चक्क चकोर।
भाँति भाँति बोलहिं विहँग, स्रवन-सुखद चित-चोर ॥ १३

करि केहरि कपि कोल कुरंगा।
विगत-बैर बिचरहिं सब संगा ॥
फिरत अहेर राम-छवि देखी।
होहिं मुदित मृग-बृंद बिसेखी ॥ १
बिबुध बिपिन जहँ लगि जग माहीं।
देखि राम बनु सकल सिहाहीं ॥
सुरसरि सरसइ दिनकर-कन्या।
मेकलसुता गोदावरि धन्या ॥ २
सब सर सिंधु नदी नद नाना।
मंदाकिनि कर करहिं बखाना ॥
उदय-अस्त-गिरि अरु कैलासू।
मंदर मेरु सकल-सुर-बासू ॥ ३
सैल हिमाचल आदिक जेते।
चित्रकूट-जसु गावहिं तेते ॥
बिंध मुदित मन सुख न समाई।
स्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई ॥ ४

दोहा—चित्रकूट के बिहँग मृग, बेलि बिटप तृन जाति।
पुन्यपुंज सब धन्य अस, कहहिं देव दिन राति ॥

नयनवंत रघुबरहिं बिलोकि।
पाइ जनम-फल होहिं बिसोकी ॥
परसि चरन-रज अचर सुखारी।
भए परमपद के अधिकारी ॥ १

सो बनु सैल सुभाय सुहावन।
मंगलमय अति-पावन-पावन॥
महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू।
सुख-सागर जहँ कीन्ह निवासू॥
पय-पयोधि तजि अवध बिहाई।
जहँ सिय-लषनु-राम रहे आई॥
कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन।
जौं सत सहस होहिं सहसानन॥
सो मैं बरनि कहौं बिधि केही।
डाबर-कमठ कि मंदर लेही॥
सेवहिं लषन करम-मन-बानी।
जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥

दोहा—छिनु छिनु लखि सिय-राम-पद, जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लषनु चितु, बंधु-मातु-पितु-गेहु॥

राम संग सिय रहति सुखारी।
पुर-परिजन-गृह-सुरति बिसारी॥
छिनु छिनु पिय-बिधु-बदनु निहारी।
प्रमुदित मनहुँ चकोर-कुमारी॥
नाह-नेहु नित बढ़त बिलोकी।
हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥
सिय-मनु राम-चरन अनुरागा।
अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा॥
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा।
प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा॥
सासु-ससुर-सम मुनितिय मुनिवर।
असन अमिअ-सम कंद मूल फर॥

नाथ-साथ साँथरी सुहाई।
मयन-सयन-सय-सम सुखदाई॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू।
तेहि कि मोहि सक बिषय-बिलासू॥

दोहा—सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृन-सम बिषय-बिलासु।
राम-प्रिया जग-जननि सिय, कछु न आचरजु तासु॥

सीय लषन जेहि बिधि सुखु लहहीं।
सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥
कहहिं पुरातन कथा कहानी।
सुनहिं लखनु सिय अति सुखु मानी॥
जब जब रामु अवध-सुधि करहीं।
तब तब बारि बिलोचन भरहीं॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई।
भरत-सनेहु-सीलु-सेवकाई॥
कृपा-सिंधु प्रभु होहिं दुखारी।
धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी॥
लखि सिय लषनु बिकल होइ जाहीं।
जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं॥
प्रिया-बंधु-गति लखि रघुनंदनु।
धीर कृपाल भगत-उर-चंदनु॥
लगे कहन कछु कथा पुनीता।
सुनि सुखु लहहिं लषनु अरु सीता॥

दोहा—रामु लषन-सीता-सहित, सोहत परन-निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर, सची-जयंत-समेत॥

—तुलसीदास

(३१) प्रताप-विसर्जन

उन्नत-सिर गिरि-अवलि गगन सों उत बतरावत।
इत सरवर पाताल भेदि अति छवि छहरावत॥
मंद पवन सीरी बहै होन लगे पतझार।
पर्नकुटी नरसिंह लसत इक मानौ कोउ अवतार।
हरन भुव-भार को॥

मुख-मंडल अति शांत कांतिमय चितवन सोहै।
भरे अनेकन भाव व्यग्र चारिहुँ दिसि जोहै॥
वीर-मंडली घेरि कै प्रभु की गति रहे जोहि।
मनु भीषम सर-सयन परे कौरव पांडव रहे सोहि॥
हृदय उमड़्यो परै॥

लखि निज प्रभु की अंत समय की वेदन भारी।
व्याकुल सब मुख तकैं सकैं धीरज नहिं धारी॥
राव सलूमर रोकि निज हिय उद्वेग महान।
हाथ ज़ोरि विनती कियो अति हरुए लगि प्रभु कान॥
बचन आरत सने॥

अहो नाथ, अहो वीर-सिरोमनि भारत-स्वामी!
हिंदू-कीरति थापन मैं समर्थ सुभ नामी!!
कहाँ वृत्ति है आपकी, कौन सोच, कहँ ध्यान?
देखि कष्ट हिय फटत है, केहि संकट मैं है प्रान॥
कृपा करिकै कहो॥

सुनत दुख भरे बैन नैन तिनके दिशि फेर्‌यो।
भरि कै दीरघ साँस सबन तन व्याकुल हेर्‌यो॥

करि साहस पुनि राव सलूमर सीस नवायो।
अभिवादन करि अति विनीत ये बचन सुनायो॥
पृथ्वीनाथ ! यह सोच क्यों उपज्यो प्रभु-हिय आज।
कुँवर बहादुर तैं परी कौन चूक केहि काज॥
निरासा जो भई॥

बदलि पास कछु सँभरि बैन परताप कह्यो पुनि।
अति गंभीर सतेज मनहुँ गुंजत केहरि धुनि॥
"सुनौ वीर मेवार के गौरव राखनहार।
मेरे हिय की वेदना जो कियो आस सब छार॥
अमर के कर्म ने॥

एक दिवस एहि कुटी अमर मेरे ढिग बैठ्यो।
इतनेहि मैं मृग एक आनि के वहाँ जु पैठ्यो॥
हरबराइ संधानि सर अमर चल्यो ता ओर।
कुटिया के या बाँस मैं फँस्यो पाग को छोर॥
अमर तौहुँ न रुक्यो॥

बढ़न चहत आगे वह पगिया खैंचत पाछे।
पै नहिं जिय मैं धीर छुड़ावै ताको आछे॥
पागहु फटी सिकारहू लग्यो न याके हाथ।
पटकि पाग लखि झोपड़िहिं अतिहिं क्रोध के साथ॥
बैन मुख ते कढ़े॥

रहु रहु रे निर्बोध अमर-गति रोकनहारे।
हम न लेहिंगे साँस बिना तोहि आज उजारे॥
राजभवन निर्मान करि तेरो चिन्ह मिटाइ।

जो दुख पाये तोहि मैं सो देहौं सबै भुलाइ ॥
सुखद आवास रचि ॥

तबहीं ते ये बैन शूल-सम खटकत मम हिय।
यह परि सुख-वासना अवसि दुख दिवस बिसारिय ॥
अति अमोल स्वाधीनता तुच्छ विषय के दाम।
बेचि सिसोदिय कीर्त्ति को यह करिहै अवसि निकाम ॥
रुके हम सोचि एहि" ॥

हिंदूपति के बैन सुनत छत्री कोपे सब।
अति पवित्र रजपूत-रुधिर नस नस दौर्‌यो तब ॥
लै लै असि दृढ़ पन कियो छ्वै छ्वै प्रभु के पाय।
"जौ लौं तन, स्वाधीनता तौ लौं रखौं बचाय ॥
संक करिये न कछु" ॥

दृढ़प्रतिज्ञ छत्रिन पन सुनि राना मुख बिकस्यो।
आश-लता लहलही भई मुखते यह निकस्यो ॥
"धन्य बीर तुम जोग ही यह पन तुमहिं सुहाय।
अब हम सुख सों मरत हैं, हरि तुम्हरे सदा सहाय ॥
यही आसीस मम" ॥

देखत देखत शांति-सदन परताप सिधाये।
पराधीनता-मेघ बहुरि भारत-सिर छाए ॥
सबही सुख परताप सँग कियो बिसर्जन हाय।
दीन हीन भारत रह्यो सुख संपदा गँवाय ॥
ताहि प्रभु रच्छिए ॥

—राधाकृष्णदास

(३२) बसंतोत्सव

आ आ प्यारी बसंत सब ऋतुओं में प्यारी।
तेरा शुभागमन सुन फूली केसर-क्यारी॥
सरसों तुझको देख रही है आँख उठाये।
गेंदे ले ले फूल खड़े हैं सजे सजाये॥
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की।
फूल फूल दिखलाते हैं गति अपने मन की॥
बौराई सी ताक रही है आम की मौरी।
देख रही है तेरी बाट बहोरि बहोरी॥
पेड़ बुलाते हैं तुझको टहनियाँ हिलाके।
बड़े प्रेम से टेर रहे हैं हाथ उठाके॥
मारग तकते बेरी के हुए सब फल पीले।
सहते सहते शीत हुए सब पत्ते ढीले॥
नींबू नारंगी हैं अपनी महक उठाये।
सब अनार हैं कलियों की दुरबीन लगाये॥
पत्तों ने गिर गिर तेरा पाँवड़ा बिछाया।
झाड़ पोंछ वायू ने उसको स्वच्छ बनाया॥
फुलसुँघनी की टोली उड़ उड़ डाली डाली।
झूम रही हैं मद में तेरे हो मतवाली॥
इस प्रकार है तेरे आने की तैयारी।
आ आ प्यारी वसंत सब ऋतुओं में प्यारी॥

× × ×

एक समय वह भी था प्यारी जब तू आती।
हर्ष हास्य आमोद मौज आनंद बढ़ाती॥

कोसों तक पृथ्वी पर रहती सरसों छाई।
देती दृग की पहुँच तलक पीतिमा दिखाई॥
सुंदर सुंदर फूल वह उसके चित्त लुभाने।
बीच बीच में खेत गेहूँ जौ के मनमाने॥
वह बबूल की छाया चित्त को हरनेवाली।
वह पीले पीले फूलों की छटा निराली॥
आस-पास पालों के बट-वृक्षों का झूमर।
जिसके नीचे वह गायों भैसों का पोखर॥
ग्वालबाल सब जिनके नीचे खेल मचाते।
बूट चने के लाते होले करते खाते॥
पशुगण जिनके तले बैठ के आनँद करते।
पानी पीते पगुराते स्वच्छंद विचरते॥
पास चने के खेतों में बालक कुछ जाते।
दौड़ दौड़ के सुरुचि साग खाते घर लाते॥
आपस में सब करते जाते खिल्ली ठट्ठा।
वहीं खोलकर खाते मक्खन रोटी मट्ठा॥
बातें करते कभी बैठ के बाँधे पाली।
साथ साथ खेतों की करते थे रखवाली॥
कहते हर्षित सभी देख फूली फुलवारी।
आ आ प्यारी वसंत सब ऋतुओं में प्यारी॥

× × ×

हाय समय ने एक साथ सब बात मिटाई।
एक चिन्ह भी उसका नहिं देता दिखलाई॥
कटे पिटे मिट गये वह सब ढाकों के जंगल।
जिनमें करते थे पशु-पक्षी नितप्रति मंगल॥

धरती के जी में छाई ऐसी निठुराई।
उपजीविका किसानों की सब भाँति घटाई॥
रहा नहीं तृण न्यार कहीं कृषकों के घर में।
पड़े ढोर उनके गोभक्षक-कुल के कर में॥

जिन सरसों के पत्तों को डंगर थे खाते।
उनसे वह अपना जीवन हैं आज बिताते॥
कहाँ गए वह गाँव मनोहर परम सुहाने।
सब के प्यारे परम शांतिदायक मनमाने॥
कपट और क्रूरता पाप और मद से निर्म्मल।
सीधे सादे लोग बसें जिनमें नहिं छल बल॥
एक साथ बालिका और बालक जहँ मिलकर।
खेला करते औ घर जाते साँझ पड़े पर॥
पाप भरे व्यवहार पाप-मिश्रित चतुराई।
जिनके सपने में भी पास कभी नहिं आई॥
एक भाव से जाति छतीसों मिलकर रहतीं।
एक दूसरे का दुख सुख मिल जुलकर सहतीं॥
जहाँ न झूठा काम न झूठी मान बड़ाई।
रहती जिनके एकमात्र आधार सचाई॥
सदा बड़ों की दया जहाँ छोटों के ऊपर।
औ छोटों के काम भक्ति पर उनकी निरभर॥
मेल जहाँ संपत्ति प्रीति जिनका सच्चा धन।
एकहि कुल की भाँति सदा बसते प्रसन्न-मन॥
पड़ता उनमें जब कोई झगड़ा उलझेड़ा।
आपस में अपना कर लेते सब निबटेड़ा॥
दिन दिन होती जिनकी सच्ची प्रीति सवाई।

एक चिन्ह भी उसका नहिं देता दिखलाई ॥
पतित-पावनी पूजनीय यमुना की धारा।
सदा पापियों का जो करती थी निस्तारा ॥
अपनी ठौर आज तक वह बहती है निरमल।
बना हुआ है वैसा ही शीतल सुमिष्ट जल ॥
विस्तृत रेती अब तक वैसी ही तट पर है।
आस पास वैसा ही वृक्षों का झूमर है ॥
छिटकी हुई चाँदनी फैली है वृक्षों पर।
चमक रहे हैं चारु रेणुकण दृष्टि-दुःखहर ॥
वही शब्द है अब तक पानी की हलचल का।
बना हुआ है स्वभाव ज्यों का त्यों जल थल का ॥
वोही फागुन मास और ऋतुराज वही है।
होली है और उसका सारा साज वही है ॥
अहह देखनेवाले इस अनुपम शोभा के।
कहाँ गये चल दिये किधर मुँह छिपा छिपा के ॥
प्रकृति देवि ! हा ! है यह कैसा दृश्य भयानक।
हृदय देख के रह जाता है जिसको भवचक ॥
क्या पृथ्वी से उठ गई सारी मानव जाती।
क्यों नहिं आकर इस शोभा को अधिक बढ़ाती ॥
किसने वह सब अगली पिछली बात मिटाई।
एक चिन्ह भी उसका नहिं देता दिखलाई ॥
सुन पड़ती नहिं कहीं आज वह ध्वनि सुखकारी।
आ आ प्यारी वसंत सब ऋतुओं में प्यारी ॥

—बालमुकुंद गुप्त

(३३) विधि-विडंबना

(१)

सरसता-सरिता-जयिनी जहाँ,
नवनवा नवनीत-पदावली।
तदपि हा ! यह भाग्य-विहीन की,
सुकविता कवि-ताप-करी हुई॥

(२)

जन्म से पहले विधि ने दिए,
रजत राज्य, रथादि तुम्हें स्वयं।
तदपि क्यों उसको न सराहते,
मचलते चलते तुम हो वृथा॥

(३)

पतन निश्चित है जिसका हुआ,
हठ उसे प्रिय है निज देह से।
अटल है उसकी विधि-वामता,
विनय से नय से घटती नहीं॥

(४)

तनिक चिंतित हो मत तू कभी,
मिट नहीं सकती भवितव्यता।
सुकृत रक्षक है सब का सदा,
भवन में, वन में, मन ! मान जा॥

(५)

महिमता जिसकी अवलोक के,
अनिश निंदक है खल-मंडली।
सुयश क्या उसका जग में नहीं,
धवल है? बल है यदि दैव का॥

(६)

हृदय! सुस्थिर होकर देख तू,
नियति का बल केवल है जिसे।
कठिन कंटक-मार्ग उसे सदा,
सुगम है, गम है करना वृथा॥

(७)

दुखित हैं धनहीन, धनी सुखी;
यह विचार परिष्कृत है यदि।
मन! युधिष्ठिर को फिर क्यों हुई,
विभवता भव-ताप-विधायिनी॥

(८)

शत सहस्र गुणान्वित हैं यहाँ,
विविध शास्त्र-विशारद हैं पड़े।
हृदय! क्यों उनमें फिर एक दो,
सुकृत से कृत-सेवक लोक हैं॥

(९)

जनन का मरना परिणाम है,
मरण-हीन मिले फिर देह क्यों।

मन ! बली विधि की करतूत से,
पतन का तन का चिर संग है ॥

(१०)

मन ! रमा, रमणी, रमणीयता,
मिल गईं यदि ये विधि-योग से।
पर जिसे न मिली कविता-सुधा,
रसिकता सिकता-सम है उसे ॥

(११)

अयश है मिलता अपभाग्य से,
तदपि तू डर कुत्सित कर्म से।
हृदय देख कलंकित विश्व में,
विबुध भी बुध भी विधि से हुए ॥

(१२)

स्मरण तू रखना गत-शोक हो,
मरण निश्चित है, मन ! दैव के।
नियम से यम के बन जायँगे,
कवल ही बल-हीन बली सभी ॥

(१३)

अमर हो तुम जीव ! सहर्ष हो,
कमर बाँध सहो निज भाग्य को।
समर है करना पर काल से,
दम नहीं मन ही मन में भरो ॥

(१४)

सुविध से विध से यदि है मिली,
रसवती सरसीव सरस्वती।
मन ! तदा तुझको अमरत्वदा,
नव-सुधा वसुधा पर ही मिली॥

(१५)

चतुर है चतुरानन सा वही,
सुभग भाग्य-विभूषित भाल है।
मन ! जिसे मन में पर काव्य की,
रुचिरता चिर ताप-करी न हो॥

—रामचरित उपाध्याय



(३४) बन-विहंगम

(१)

बन-बीच बसे थे फँसे थे ममत्व में, एक कपोत-कपोती कहीं।
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले मिले दोनों वहीं।
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रहीं।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं॥

(२)

रहता था कबूतर मुग्ध सदा, अनुराग के राग में मस्त हुआ।
करती थी कपोती कभी यदि मान, मनाता था पास जा व्यस्त हुआ।
जब जो कुछ चाहा कबूतरी ने, उतना वह वैसे समस्त हुआ।
इस भाँति परस्पर पक्षियों में, भी प्रतीति से प्रेम प्रशस्त हुआ॥

(३)

सुविशाल नभों में उड़े फिरते, अवलोकते प्राकृत चित्र छटा।
कहीं शस्य से श्यामल खेत खड़े, जिन्हें देख घटा का भी मान घटा।
कहीं कोसों उजाड़ में झाड़ पड़े, कहीं आड़ में कोई पहाड़ सटा।
कहीं कुंज-लता के वितान तने, सब फूलों का सौरभ था सिमटा॥

(४)

कहीं झील किनारे बड़े बड़े ग्राम, गृहस्थ-निवास बने हुए थे।
खपरैलों में कद्दू करैलों की वेल, के खूब तनाव तने हुए थे।
जल शीतल अन्न जहाँ पर पाकर, पक्षी घरों में घने हुए थे।
सब ओर स्वदेश स्वजाति-समाज—भलाई के ठान ठने हुए थे॥

(५)

इस भाँति निहारते लोक की लीला, प्रसन्न वे पच्छी फिरें घर को।
उन्हें देखते दूर ही से मुख खोल के, बच्चे चलें चट बाहर को।
दुलराने खिलाने पिलाने से था, अवकाश उन्हें न घड़ी-भर को।
कुछ ध्यान ही था न कबूतर को, कहीं काल चढ़ा रहा है शर को॥

(६)

दिन एक बड़ा ही मनोहर था, छवि छाई बसंत की कानन में।
सब ओर प्रसन्नता देख पड़ी, जड़ चेतन के तन में मन में।
निकले थे कपोत-कपोती कहीं, पड़े झुंड में घूम रहे वन में।
पहुँचा यहाँ घोंसले पास शिकारी, शिकार की ताक में निर्जन में॥

(७)

उस निर्दय ने उसी पेड़ के पास, बिछा दिया जाल को कौशल से।
वहाँ देख के अन्न के दाने पड़े, चले बच्चे अभिज्ञ जो थे छल से।
नहीं जानते थे कि यहीं पर है, कहीं दुष्ट भिड़ा पड़ा भूतल से।
बस फाँस के बाँस के बंधन में, कर देगा हलाल हमें बल से॥

(८)

जब बच्चे फँसे उस जाल में जा, तब वे घबड़ा उठे बंधन में।
इतने में कबूतरी आई वहाँ, दशा देख के व्याकुल हो मन में।
कहने लगी, "हाय हुआ यह क्या !, सुत मेरे हलाल हुए वन में।
अब जाल में जाके मिलूं इनसे, सुख ही क्या रहा इस जीवन में"॥

(९)

उस जाल में जाके बहेलिये के, ममता से कबूतरी आय गिरी।
इतने में कपोत भी आया वहाँ, उस घोंसले में थी विपत्ति निरी।

लखते ही अंधेरा सा आगे हुआ, घटना की घटा वह घोर घिरी।
नयनों से अचानक बूंद गिरे, चेहरे पर शोक की स्याही फिरी॥

(१०)

तब दीन कपोत बड़े दुख से, कहने लगा—"हा! अति कष्ट हुआ।
निर्बलों ही को दैव भी मारता है, ये प्रवाद यहाँ पर स्पष्ट हुआ।
सब सूना किया चली छोड़ प्रिया, सबही विधि जीवन नष्ट हुआ।
इस भाँति अभागा अतृप्त ही मैं, सुख-भोग के स्वर्ग से भ्रष्ट हुआ॥

(११)

गृह-लक्ष्मी नहीं जो जगाये रहा, करती थी सदा सुख-कल्पना को।
शिशु भी तो नहीं, जो उन्हीं के लिये, सहता इस दारुण वेदना को।
यह सामने ही परिवार पड़ा, पड़ा भोग रहा यम-यातना को।
अब मैं ही वृथा इस जीवन को, रख कैसे सहूँगा विडंबना को"॥

(१२)

यहाँ सोचता था यों कपोत वहाँ, चिड़ी-मार ने मार निशाना लिया।
गिर लोट गया धरती पर पत्ती, बहेलिये ने मनमाना किया।
पल में कुल का कुल काल-कराल, ने भूत भविष्य में भेज दिया।
क्षण-भंगुर जीवन की गति का, यह एक निदर्शन है बढ़िया॥

(१३)

प्रिय पाठक! आप तो विज्ञ ही हैं, फिर आपको क्या उपदेश करें।
शिर पै शर तानें बहेलिया काल, खड़ा हुआ है यह ध्यान धरें।
दशा अंत को होनी कपोत की ऐसी, परंतु न आप ज़रा भी डरें।
निज धर्म के कर्म सदैव करें, कुछ चिन्ह यहाँ पर छोड़ मरें॥

—रूपनारायण पांडेय

(३५) आत्म-त्याग

एक समय सानंद राज्य का शासन करते।
निर्भय रख गो-विप्र-प्रजागण के मन हरते॥
वीर-भूमि मेवाड़ में, सज्जन, सत्य-प्रतिज्ञ।
राजसिंह राणा प्रवर, थे भूपति वर-विज्ञ॥
शांति सुख से महा॥ १॥

भीमसिंह जयसिंह नाम के बली धुरंधर।
राजसिंह के पुत्र गुणी थे दो अति सुंदर॥
यमल भ्रात थे वे उभय, पितृभक्त सुखसार।
भीमसिंह पर ज्येष्ठ थे, जन्म-काल अनुसार॥
अतः कुल-पूज्य थे॥ २॥

धर्मनीति अनुसार राज्य-पद के अधिकारी।
भीमसिंह थे स्वयं पिता के आज्ञाकारी॥
ज्येष्ठ पुत्र ही को सदा, निज पैतृक व्यवहार।
राज काज इन सकल में, मिलता है अधिकार॥
न्याय की दृष्टि से॥ ३॥

भीमसिंह से किंतु, किसी कारण-वश नृपवर।
रहते थे अति खिन्न, चित्त में स्वीय निरंतर॥
पापमूल कुविचारमय, दुष्ट द्वेष की वृष्टि।
करती कब किस ठौर में, है न भिन्नता-सृष्टि॥
कहो हे पाठको !॥ ४॥

इसी भाव से भूप-हृदय थी इच्छा भारी॥
लघु-सुत को दे राज्य बनाना उसे सुखारी॥

न्यायी भी अवसर पड़े, न्यायान्याय बिसार।
फँस जाते अन्याय में, पक्षपात उर धार॥
अंध बन मोह से॥ ५॥

रानी कमलकुमारी ने यह बात सुनी जब।
ऊँच नीच बहु भाँति सुझाया राणा को तब॥
देख महा अन्याय भी, कहैं न कुछ जो लोग।
क्या न दुष्ट प्रत्यक्ष वे, देते उसमें योग॥
धर्म के न्याय से॥ ६॥

अस्तु; नृपति ने पक्षपात की बात बिसारी।
करने लगे तथैव सोच निज कृति पर भारी॥
सहसा करते कार्य जो, बनकर के अज्ञान।
है केवल उनका सदा, पश्चात्ताप निदान॥
सत्य यह मानिये॥ ७॥

अन्य दिवस भय, लाज, दुःख से अमित सताया।
भीमसिंह को संमुख राणा ने बुलवाया॥
चला भृत्य प्रमुदित हिये, नृप आज्ञा अनुसार।
उलझा विविध विचार में, लाने राजकुमार॥
तीर के वेग से॥ ८॥

भीमसिंह अवलोक दूत को स्मित-आनन में।
करने लगे विचार अनेकों अपने मन में॥
"हरे हरे कैसी हुई, नई बात यह आज।
पड़ा भूप का कौन सा, ऐसा मुझसे काज॥
बुलाया जो मुझे॥ ९॥

दे जयसिंह को राज्य-भार सब क्या राणा ने।
मुझे बुलाया आज अनुज का दास बनाने॥
नहीं नहीं मुझको कभी, है न सह्य अपमान।
इष्ट नहीं है दासता, भले जायँ यह प्राण॥
सहित शुचि मान के" ॥१०॥

हुई शांत क्रोधाग्नि अंत में जब कुछ क्षण में।
भीमसिंह ने तनिक विचारा अपने मन में॥
जाने में है हानि क्या, ग्लानि तथा भय लाज।
चल देखूँ तो क्या मुझे, कहते हैं नृप-राज॥
भला वह भी सुनूँ ॥११॥

यही सोचकर भीमसिंह मन में रिस लाए।
राजसिंह नृपराज निकट तत्क्षण ही आए॥
किंतु हुए विस्मित महा, देख दशा कुछ अन्य।
बैठे हैं राणा-प्रवर, चिंतित चित्त अनन्य॥
शीश नीचा किये ॥१२॥

जब राणा ने भीमसिंह को देखा संमुख।
कहा "वत्स प्रिय भीमसिंह"! कर नीचे को मुख॥
सुनकर यह करुणा-भरी, भूपति-वर की बात।
भीमसिंह अति चकित हो, बोले कंपित-गात॥
"पिताजी! हाँ, कहो" ॥१३॥

मधुर बात कर श्रवण पुत्र की अचरज-सानी।
कही नृपति ने पुनः सँभल करके वर वाणी॥

"प्यारे सुत ! धिक है मुझे, मैंने तुम से हाय।
मोह-जड़ित चित-भ्रमित हो, किया बड़ा अन्याय॥
स्वीय अविचार से" ॥१४॥

राणा ने फिर कहा "पुत्र ! अब रहो अचिंतित।
करो न पश्चात्ताप हुई होनी उसके हित॥
भीमसिंह सच मान लो, राज्यासन-अधिकार।
देऊँगा कल मैं तुम्हें, न्याय-नीति-अनुसार॥
छोड़ सब भिन्नता ॥१५॥

एक बात पर बड़ी कठिन आ पड़ी यहाँ है।
प्रकट भयंकर खड़ी कलह की जड़ी यहाँ है॥
जयसिंह का जिस वस्तु पर, है न लेश अधिकार।
समझ रहा है वह उसे, स्वीय गले का हार॥
हाय ! मम भूल से ॥१६॥

यदि निराश हो जाय आज वह एकाएकी।
खड़ा करेगा विघ्न विषम बनकर अविवेकी॥
दोनों दल के समर से, अगणित विना प्रमाण।
तुरत व्यर्थ हो जाँयगे, कितनों ही के प्राण॥
इसी अज्ञान से" ॥१७॥

सुनी बात यह भीमसिंह ने नृप-मति जानी।
तथा चित्त में नृपति-न्याय-निष्ठा अनुमानी॥
चरण-निकट रख खड्ग निज, आँखों में भर नीर।
पितृ-प्रेम लख मुग्ध हो, बोला यों वह वीर॥
अमृत साना हुआ ॥१८॥

"चिरंजीव जयसिंह अनुज मेरा अति प्यारा।
सुख दुख में आधार सदा सर्वत्र सहारा॥
दे सकता उसके लिये, मैं हूँ अपने प्राण।
तुच्छ राजपद-दान फिर, है क्या बात महान॥
उचित संमान से॥१९॥

दिया आप ने राज्य हर्षपूर्वक लेता हूँ।
जयसिंह को फिर वही मुदित हो मैं देता हूँ॥
कथन आप यह लीजिए, सत्य सत्य ही मान।
होगा कभी न अन्यथा, मम प्रण विकट महान॥
अचल है सर्वथा॥२०॥

त्याग राज्य चिर-ब्रह्मचर्य-व्रत में रत होके।
हरी भीष्म ने व्यथा पिता की शंका खोके॥
तजकर निज तारुण्य को, पुरु ने धन्य समर्थ।
लिया जरा को मोद में, पूज्य पिता के अर्थ॥
जान कर्तव्य निज॥२१॥

रामचंद्र ने स्वयं पिता की आज्ञा मानी।
लिया गहन बनवास तुच्छ सुख-संपति जानी॥
जो न पिता-आज्ञा करूँ, पालन किसी प्रकार।
तो मुझको धिक्कार है, वार वार शतवार॥
जन्म मम व्यर्थ है॥२२॥

यदि रहने से यहाँ कदाचित् मेरे मन में।
राज्य-लोभ हो जाय कहीं सहसा कुक्षण में॥

इस कारण यह लीजिये, तजकर मैं घर द्वार।
छोड़े देता हूँ अभी, मातृ-भूमि मेवार॥
जन्म-भर के लिये" ॥२३॥

इतना कहकर भीमसिंह निज-प्रण-पालन-हित।
शांत-भाव से भक्ति-युक्त हो अति प्रमुदित चित॥
कर प्रणाम नृपराज को, धारे हिये उमंग।
छोड़ राज्य वह चल पड़े, कुछ अनुचर के संग॥
कहीं बाहर अहा !॥२४॥

बीता जब कुछ काल, भीमसिंह के सब साथी।
आये अपने देश लौट के घोड़े हाथी॥
भीमसिंह पर लौटकर, आए नहिं हा हंत !।
आया तो आया मरण—समाचार ही अंत॥
लौट उस वीर का ॥२५॥

धन्य धन्य हे भीमसिंह ! प्रण के अनुरागी।
सज्जन, सत्य-प्रतिज्ञ, विज्ञ, त्यागी बड़भागी॥
धन्य आपका प्रण तथा, आत्म-त्याग आदर्श।
धन्य धर्म-दृढ़ता तथा, भ्रातृ-प्रेम-उत्कर्ष॥
धन्य तव वीरता ॥२६॥

—लोचनप्रसाद पांडेय

(३६) वीर-बत्तीसी

जयतु कंस-करि-केहरी ! मधु-रिपु ! केशी-काल !
कालिय-मद-मर्दन ! हरे ! केशव ! कृष्ण कृपाल ॥ १ ॥
आदि मध्य अवसान हूँ, जामें उदित उछाह ।
सुरस वीर इकरस सदा, सुभग सर्वरस-नाह ॥ २ ॥
खंड-खंड ह्वै जाय वरु, देतु न पाछें पैंड़ ।
लरत सूरमा खेत की, मरत न छाँड़तु मैंड़ ॥ ३ ॥
खल-खंडन, मंडन-सुजन, सरल, सुहृद, सविवेक ।
गुण-गँभीर, रण-सूरमा, मिलतु लाख में एक ॥ ४ ॥
मुँहमाँगे रण-सूरमा, देतु दान पर-हेतु ।
सीस-दान हूँ देतु पै, पीठि-दान नहिं देतु ॥ ५ ॥
दया-धर्म जान्यौ तुहीं, सब धर्मनु कौ सार ।
नृप शिवि ! तेरे दान पै, वलि हूँ वलि सौ वार ॥ ६ ॥
दल्यौ अहिंसा-अस्त्र लै, दनुज-दुःख करि युद्ध ।
अजय-मोह-गज-केसरी, जयतु तथागत बुद्ध ॥ ७ ॥
मृत-रोहित-पट-दानु लै, धार्यौ धर्म अमंद ।
खड्ग-धार-व्रत-धीर धनि, सत्य वीर हरिचंद ॥ ८ ॥
किधौं उच्च हिम-शृंग-वर, किधौं जलधि गँभीर ।
किधौं अटल ध्रुव-धाम कै, दान-वीर मति-धीर ॥ ९ ॥
सुरतरु लै कीजै कहा, अरु चिंतामणि-ढेरु ।
इक दधीचि की अस्थि पै, वारिय कोटि सुमेरु ॥ १० ॥
केसरिया वागो पहिरि, कर कंकण, उर माल ।
रण-दूलह ! वरि लाइयौ, दुलहिन विजय-सुवाल ॥ ११ ॥
धनि धनि, सो सुकृती व्रती, सूर-सूर, सतसंध ।
खड्ग खोलि खुलि खेत पै, खेलतु जासु कबंध ॥ १२ ॥

लरतु काल सों लाख में, कोइ माई कौ लाल।
कहुँ, केते करवाल कों, करत कंठ-कलमाल ॥ १३ ॥
रण-सुभट्ट वै भुट्ट-लौं, गहि असि कट्टत मुंड।
उठि कबंध जुट्टत कहूँ, कहुँ लुट्टत रिपु-रुंड ॥ १४ ॥
लोहित-लथपथ देखिकैं, खंड-खंड तन-त्रान।
निकसत हुलसत युद्ध में, बड़भागिनु के प्रान ॥ १५ ॥
कादर तौ जीवित मरत, दिन में बार हजार।
प्रान-पखेरू बीर के, उड़त एक ही बार ॥ १६ ॥
जगी जोति जहँ जूझ की, खगी खंग खुलि भूमि।
रँगी रुधिर सों धूरि सो, धन्य धन्य रण-भूमि ॥ १७ ॥
अनल-कुंड असि-धार कै, रकत-रँग्यौ रण-खेत।
त्रय तीरथ तारण-तरण, छिति छत्रिय-त्रिय-हेत ॥ १८ ॥
सुभट-सीस-सोनित-सनी, समर-भूमि ! धनि-धन्य !
नहिं तो सम तारण-तरण, त्रिभुवन तीरथ अन्य ॥ १९ ॥
नमो-नमो कुरु-खेत ! तुव, महिमा अकथ अनूप।
कण-कण तेरो लेखियतु, सहस-तीर्थ-प्रतिरूप ॥ २० ॥
बोध सीसु सींच्यौ सदा, हृदय-रक्त रण-खेत।
बीर-कृषक कीरति लही, करी मही जस-सेत ॥ २१ ॥
हिंदू-कवि, हिंदुवान-कवि, हिंदी-कवि रसकंद।
सुकवि, महाकवि, सिद्धकवि, धन्य धन्य कवि चंद ॥ २२ ॥
सिवा-सुजस-सरसिज-सुरस, मधुकर मत्त अनन्य।
रस-भूषण भूषण, सुकवि भूषण, भूषण धन्य ॥ २३ ॥
लहरति चमकति चारु सों, तुव तरवार अनूप।
धाय डसति, चौंधति चखनु, नागिनी दामिनि रूप ॥ २४ ॥
वह शकुंतला लाडिलो, कब तें माँगतु रोय।
"खड्ग-खिलोना खेलिबे, अबहिं लाय दै मोय" ॥ २५ ॥

कह्यौ माय मुख चूमिकैं, कर गहाय करवाल।
"जनि लजाइयौ दूध मो, पयोधरनु कौ लाल ! ॥ २६ ॥
चूर-चूर ह्वै अंत लौं, रखियौ कुल की लाज।
जननि दूध पितु-खड्ग की, अहै परिच्छा आज" ॥ २७ ॥
गावत गायक बीन लै, बिरही राग बिहाग।
नाहिं अलापत आजु क्यों, मंगल मारू राग ॥ २८ ॥
लावत रँगि रँगरेज ! क्यों, पगिया रंग-बिरंग ?
अब तौ, बस, भावतु वहै, सुंदर रंग सुरंग ॥ २९ ॥
जियत बाघ की पीठि पै, धनु-धारीनु चढ़ाय।
क्यों न, चितेरे ! चित्र तूँ, उमँगि उतारत आय ? ॥ ३० ॥
प्रकृत-वीर कौ अंत हूँ, परतु मंद नहिं तेज।
नहिं चाहतु चंदन-चिता, भीष्म छाँड़ि सर-सेज ॥ ३१ ॥
मिली हमें थर्मोपिली, ठौर-ठौर चहुँ पास।
लेखिय राजस्थान मैं, लाखनु ल्यूनीडास ॥ ३२ ॥

—वियोगी हरि



(३७) कबीर के दोहे और पद

(१) साखी

गुरु गोबिंद दोनों खड़े, काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गुर दियो बताय ॥ १ ॥
मालिन आवत देखि करि, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए, कालिह हमारी बार ॥ २ ॥
बाढ़ी आवत देख करि, तरवर डोलन लाग।
हम कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग ॥ ३ ॥
फागुन आवत देख करि, बन रूना मन माहिं।
ऊँची डाली पात हैं, दिन दिन पीले थाहिं ॥ ४ ॥
दव को दाधी लाकड़ी, ठाढ़ी करै पुकार।
मति बसि परौं लुहार के, जालै दूजी बार ॥ ५ ॥
मेरा बीर लुहारिया, तू मति जालै मोहि।
इक दिन ऐसा आइगा, हौं जालौंगी तोहि ॥ ६ ॥
जिभ्या में अमृत बसै, जो कोइ जानै बोलि।
बिस वासिक का ऊतरै, जिभ्या काहि हिलोलि ॥ ७ ॥
रोड़ा ह्वै रहु बाट का, तजि पाषँड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहे, ताहि मिलैं भगवान ॥ ८ ॥
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देह।
हरिजन ऐसा चाहिए, जिसी जिमीं की खेह ॥ ९ ॥
खेह भई तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागै अंग।
हरिजन ऐसा चाहिए, पानी जैसा रंग ॥ १० ॥
पानी भया तो क्या भया, ताता सीता होइ।
हरिजन ऐसा चाहिए, जैसा हरि हो होइ ॥ ११ ॥

हरि भया तो क्या भया, जासौं सब कुछ होइ।
हरिजन ऐसा चाहिए, हरि भजि निरमल होइ ॥१२॥
कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकास।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥१३॥
तेरा साँई तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढै घास ॥१४॥
साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय ॥१५॥
जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिनु प्रान ॥१६॥
विरह कमंडल कर लिए, वैरागी दो नैन।
माँगैं दरस मधूकरी, छके रहैं दिन रैन ॥१७॥
मूड़ मुड़ाए हरि मिलैं, सब कोइ लेय मुड़ाय।
बार-बार के मूड़ते, भेड़ न वैकुँठ जाय ॥१८॥
सिंहों के लहँड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँति।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलैं जमाति ॥१९॥
लघुता से प्रभुता मिलै, प्रभुता से प्रभु दूरि।
चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि ॥२०॥
देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान ते, मूरख भुगतै रोय ॥२१॥
हवस करै पिय मिलन की, औ सुख चाहै अंग।
पीर सहे बिनु पद्मिनी, पूत न लेत उछंग ॥२२॥
छिमा बड़न को चाहिए, छोटन को उतपात।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ॥२३॥
खूँदन तो धरती सहै, काट कूट बनराइ।
संत सहैं दुरजन वचन, औरन सहा न जाइ ॥२४॥

करगस सम दुरजन बचन, रहै संत जन टारि।
बिजुली परै समुद्र में, कहा सकैगी जारि ॥२५॥
कबिरा गुरु के मिलन की, बात सुनी हम दोय।
कै साहेब को नाम लै, कै कर ऊँचा होय ॥२६॥
ऋतु बसंत जाचक भया, हरषि दिया द्रुम पात।
तातें नव-पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात ॥२७॥
जो जल बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए, यहि सज्जन को काम ॥२८॥
साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥२९॥
साधू गाँठि न बाँधई, उदर समाता लेय।
आगे पाछे हरि खड़े, जब माँगे तब देय ॥३०॥
गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धन-खान।
जब आवे संतोषधन, सब धन धूरि समान ॥३१॥
धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय ॥३२॥
साँचे कोइ न पतीजई, झूठे जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय ॥३३॥
चातक सुतहि पढ़ावहीं, आन नीर मत लेय।
मम कुल यही सुभाव है, स्वाति-बूँद चित देय ॥३४॥
ऊँची जाति पपीहरा, पियै न नीचा नीर।
कै सुरपति को जाँचई, कै दुख सहै सरीर ॥३५॥
साधु कहावन कठिन है, लंबा पेड़ खजूर।
चढ़ै तो चाखै प्रेम-रस, गिरै तो चकनाचूर ॥३६॥
हंसा बक एक रँग लखिय, चरैं एक ही ताल।
छीर नीर ते जानिए, बक उघरै तेहि काल ॥३७॥

खुलि खेलो संसार में, बाँधि न सक्कै कोय।
घाट जगाती क्या करै, जो सिर बोझ न होय ॥३८॥

(२) सबद

मोको कहाँ ढूँढ़ता बंदे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं छगरी ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरा गड़ास में ॥

नहीं खाल में, नहीं पूँछ में, ना हड्डी ना मास में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना कावे कैलास में ॥
ना तो कौनो क्रिया करम में, नहीं जोग विराग में।
खोजी होय तो तुर्तें मिलि हौं, पल-भर की तालास में ॥
मैं तो रहौं सहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में।
कहै 'कबीर' सुनो भाइ साधो, सब साँसों की साँस में ॥ १ ॥

दुइ जगदीस कहाँ ते आए, कहु कौने भरमाया।
अल्ला राम करीमा केसो, हरि हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक ते गहना, तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ कर थापे, यक नेवाज यक पूजा ॥
वही महादेव वही मुहंमद, ब्रह्मा आदम कहिए।
कोइ हिंदू कोइ तुरक कहावै, एक जमीं पर रहिए ॥
वेद कितात्र पढ़े वे कुतवा, वे मौलाना वे पाँड़े।
विगत विगत कै नाम धरायो, यक माटी के भाँड़े ॥
कहु 'कबीर' वे दोनों भूले, रामहि किनहु न पाया।
ये व्रसिया वे गाय कटावैं, बादे जन्म गँवाया ॥ २ ॥

मुलाँ करि ल्यौ न्याव खुदाई,
इहि विधि जीव का भरम न जाई ॥ टेक ॥

सरजी आनें देह विनासै, माटी विसमल कीता।
जोती सरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता ॥
बेद कतेब कहौ क्यूँ झूठा, झूठा जो न विचारै।
सब घटि एक एक करि जानैं, तउ दूजा करि मारै ॥
कुकड़ी मारै बकरी मारै, हक हक करि बोलै।
सबै जीव साँई के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै ॥
दिल नहिं पाक पाक नहीं चीन्हा, उसका खोज न जाना।
कहै 'कबीर' भिसति छिटकाई, दोजग ही मन माना ॥ ३ ॥

काहे री नलनी तूं कुम्हिलाँनी,
तेरैं ही नालि सरोवर पानी ॥ टेक ॥

जल मैं उतपति जल मैं बास, जल मैं नलनी तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासनि लागि।
कहै 'कबीर' जे उदिक समान, ते नहीं मुए हमारे जान ॥ ४ ॥

बागड़ देस लूवन का घर है,
तहाँ जिनि जाइ दाझन का डर है ॥ टेक ॥

सब जग देखौं कोई न धीरा, परत धूरि सिरि कहत अबीरा।
न तहाँ सरबर न तहाँ पाणीं, न तहाँ सतगुर साधू बाणीं।
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा, ऊँचै चढ़ि हंसा मूवा।
देस मालवा गहर गँभीर, डग डग रोटी पग पग नीर।
कहै 'कबीर' घरहीं मन मानाँ, गूँगे का गुड़ गूँगै जानाँ ॥ ५ ॥

हरि बिन बैल बिराने ह्वैहै।

चार पाँव दुइ सिंग गुंग मुख, तब कैसे गुन गैहै ॥
ऊठत बैठत ठेंगा परिहै, तब कत मूड़ लुकैहै।
फाटे नाकन टूटे काँधन, कोदौ को भुस खैहै ॥
सारो दिन डोलत बन महिया, अजहुँ न पेट अघैहै।
जन भगतन को कहो न मानो, कीयो अपनो पैहै ॥
दुख सुख करत महाभ्रम बूड़ौ, अनिक योनि भरमैहै।
रतन जनम खोयो प्रभु बिसरयो, इह अवसर कत पैहै ॥
भ्रमत फिरत तेलक के कपि ज्यों, गति बिनु रैनि बिहैहै।
कहत 'कबीर' राम नाम बिनु, मूँड़ धुनै पछितैहै ॥ ६ ॥

हरि बिन कौन सहाई मन का।

मात पिता भाई सुत बनिता, हितु लागो सब फन का ॥
आगे कौ किछु तुलहा बाँधहु, कहा भरोसा धन का।
कहा बिसासा इस भाँडे का, इतनुक लागे ठनका ॥
सगल धर्म पुन्न-फल पावहु, बाँछहु पद-रज जन का।
कहै, 'कबीर' सुनहु रे संतहु, इहु मन उड़न पखेरू बन का ॥ ७ ॥

ऐसे लोगन स्यों क्या कहिए।

हरि जस सुनहि न हरि गुन गावहि, बातन ही असमान गिरावहि।
जो प्रभु कीए भगति ते बाहज, तिनते सदा डराने रहिए।
आप न देहि चुरू भरि पानी, तिहि निदहिं जिह गंगा आनी।
बैठत उठत कुटिलता चालहिं, आप गए औरनहू घालहिं।
छाड़ि कुचर्चा आन न जानहि, ब्रह्माहू को कह्यो न मानहि।

आप गए औरनहू खोवहिं, आगि लगाइ मँदिर में सोवहिं।
औरन हँसत आप हहिं काने, तिनकौ देखि 'कबीर' लजाने ॥ ८ ॥

हृदय कपट मुख ज्ञानी, झूठे कहा बिलोवसि पानी।
काया मांजसि कौन गुना, जौ घट भीतर है मलना।
लौकी अठसठि तीरथ न्हाई, करुआपन तऊ न जाई।
माँगत 'कबीर' बारंबारी, भवसागर तारि मुरारी ॥ ९ ॥

—कबीरदास



(३८) मीराँबाई के पद

(१)

बसो मोरे नैनन में नँदलाल।

मोहनी मूरति, साँवरी सूरति, नैना बने विसाल॥
मोर-मुकुट, मकराकृति कुंडल, अरुण तिलक दिये भाल।
अधर सुधा-रस मुरली राजति, उर वैजंती माल॥
छुद्र घंटिका कटितट सोभित, नूपुर-सबद रसाल।
'मीराँ' प्रभु संतन सुखदाई, भगत-बछल गोपाल॥

(२)

मन रे परसि हरि के चरण।

सुभग सीतल कँवल-कोमल, त्रिविध ज्वाला-हरण॥
जिण चरण प्रहलाद पाले, इंद्र-पदवी धरण॥
जिण चरण ध्रुव अटल कीने, राखि अपनी सरण॥
जिण चरण ब्रह्मांड भेंट्यो, नख सिख सिरी धरण॥
जिण चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम-घरण॥
जिण चरण कालीनाग नाथ्यो, गोप-लीला-करण॥
जिण चरण गोवरधन धर्‌यो, इंद्र को ग्रब हरण॥
दासी 'मीराँ' लाल गिरधर, अगम तारण-तरण॥

(३)

भज मन चरण-कँवल अविनासी।

जेताइ दीसै धरण-गगन विच, तेताइ सब उठ जासी।
इस देही का गरब न करणा, माटी में मिल जासी॥

यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड़्याँ उठ जासी।
कहा भयो तीरथ व्रत कीने, कहा लिये करवत कासी ?
कहा भयो है भगवा पहर्‌याँ, घर तज भये सँन्यासी ?
जोगी होइ जुगत नहिं जाणी, उलट जनम फिर आसी॥
अरज करौं अवला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी।
'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फाँसी॥

(४)

या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुंदर बदन कमल-दल लोचन, बाँकी चितवन मँद मुसकानी॥
जमना के नीरे तीरे धेन चरावै, बंसी मैं गावै मीठी बानी।
तन मन धन गिरधर पर वारूँ, चरण-कँवल 'मीराँ' लपटानी॥

(५)

माई री मैं तो लीयो गोविंदो मोल।
कोई कहै छानै कोई कहै चौड़े, लियो री बजंता ढोल॥
कोई कहै मुँहघो कोई सुँहघो, लियो री तराजू तोल।
कोई कहै कारो कोई कहै गोरो, लियो री अमोलक मोल॥
या ही कूँ सब लोग जाणत है, लियो री आँखी खोल।
'मीराँ' कूँ प्रभु दरसण दीज्यो, पूरब जनम को कोल॥

(६)

देखत राम हँसे सदामाँ कूँ, देखत राम हँसे।
फाटी तो फूलड़ियाँ पाँव उभाणो, चलतैं चरण घसे।
बालपणे का मिंत सदामाँ, अब क्यूँ दूर बसे।
कहा भावज ने भेंट पठाई, तांदुल तीन पसे।
कित गई प्रभु मोरी टूटी टपरिया, हीरा मोती लाल कसे।

कित गई प्रभु मोरी गउअन बछिया, द्वारा बिच हँसती फसे।
'मीराँ' के प्रभु हरि अविनासी, सरणे तोरे बसे॥

(७)

नहिं ऐसो जनम बारंबार।
का जाणूँ कछु पुण्य प्रगटे, मानुसा अवतार॥
बढ़त छिन-छिन घटत पल-पल, जात न लागै बार।
बिरछ के ज्यों पात टूटे, बहुरि न लागै डार॥
भौ-सागर अति जोर कहिये, अनँत ऊँडी धार।
राम-नाम का बाँध बेड़ा, उतर परले पार॥

(८)

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकट, मेरो पति सोई॥
छाँड़ि दई कुल की कानि, कहा करि है कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि, लोक-लाज खोई॥
अँसुअन जल सींचि सींचि, प्रेम-बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई, आणँद-फल होई॥
भगति देखि राजी हुई, जगति देखि रोई।
दासी 'मीराँ' लाल गिरधर, तारो अब मोई॥

(९)

करम-गत टारे नाहिं टरे।
सतवादी हरिचँद-से राजा, सो तो नीच घर नीर भरे।
पाँच पांडु अरु कुँती द्रोपदी, हाड हिमालै गरे।
जग्य कियो बलि लेण इन्द्रासण, सो पाताल धरे।
'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर, विख से अम्रित करे॥

(१०)

मैंने राम रतन धन पायौ ।
बसत अमोलक दी मेरे सतगुर, करि किरपा अपणायौ ।
जनम जनम की पूँजी पाई, जग में सबै खोवायौ ।
खरचै नहिं कोई चोर ना लेवै, दिन-दिन बधत सवायौ ।
सत की नाव खेवटिया सतगुर, भवसागर तरि आयौ ।
'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर, हरखि-हरखि जस गायौ ॥

(११)

फागुण के दिन चार रे, होरी खेल मना रे ।
बिनि करताल पखावज बाजै, अणहद की झनकार रे ।
बिनि सुर राग छतीसूँ गावै, रोम-रोम रँग सार रे ।
सील संतोख की केसर घोली, प्रेम-प्रीत पिचकार रे ।
उड़त गुलाल लाल भयो अंबर, बरसत रंग अपार रे ।
घट के सब पट खोल दिये हैं, लोक-लाज सब डार रे ।
होरी खेलि पीव घर आये, सोइ प्यारी पिय प्यार रे ।
'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर, चरण-कँवल बलिहार रे ॥

—मीराँबाई

(३६) छत्रसाल का देवगढ़ बिजय

दोहा

मिलि कै नृप जयसिंह सौं, अंगद लिये बुलाइ।
मनसिब भयौ दुहूनि कौ, रहे संग सुख पाइ ॥ १ ॥

छंद

रहे संग कूरम के ऐसे। नृप बिराट के पंडव जैसे ॥
यद्यपि मनसम मनसिव नाहीं। सब तैं उमगि अधिक उर माहीं ॥
जहाँ जूझ के बजे नगारे। तहाँ उमगि उर लरै छतारे ॥
सनमुख धसै वीर-रस पागे। घालै घाउ सबहिं तै आगे ॥
अरुन रंग आनन छवि छावै। अरि के अस्त्र गुबिंद बचावै ॥
जहाँ गढ़न सौं होइ लराई। तहाँ करै सब तैं अधिकाई ॥
करै मोरचा सब तैं ऊँचे। जहाँ और के मन न पहूँचे ॥
गिरै गाज से तहँ मतवारे। राखि लेहिं तहँ राखन हारे ॥

दोहा

या विध नृप जयसिंह के, रहे संग छत्रसाल।
त्यौं फरमान दिलीस कौ, आइ गयो ततकाल ॥ २ ॥

छंद

त्यौं फरमान साह कौ आयो। वली बहादुरखाँ फरमायो ॥
लिखी मुहीम देवगढ़ जैयै। विकट मवास जेर कर ऐयै ॥
सुनि फरमान चढ़ाई भौंहैं। पिल्यौ नवाव देवगढ़ सौंहैं ॥
नृप महत छत्रसाल पठाये। कोका की तावीन लगाये ॥
कोका संग चले सुख पाये। ये विचार चित में ठहराये ॥
जबहिं साह दच्छिन तैं धाये। चंपतिराइ हजूर बुलाये ॥

औरँग कलह तखत हितु काँध्यौ । दारा घाट धौलपुर बाँध्यौ ॥
तहाँ हरौली चंपति कीन्हीं । चामिल उतरि फतै लै दीन्हीं ॥

दोहा

दुदस हजारी कौ तहाँ, मनसिब दियौ दिलीस ।
ऐरछ कौंच कनार कुल, अरु पाई बखसीस ॥ ३ ॥

छंद

ये नवाब सब जानत आहीं । इनसौं कछु कहिबे की नाहीं ॥
इन चंपति सौं भाइप मानी । बदली पाग जगत मैं जानी ॥
इनकौ संग भलो है तातै । करिहै भली पुरानै नातै ॥
यह बिचार कोका सँग धाये । चलि दर कूच देवगढ़ आये ॥
निकट जाइ जब बजे नगारे । उमड़े उतहिं देवगढ़वारे ॥
सत्तर सहस सुभट नर बाँके । रोके आइ गिरिन के नाके ॥
लागी लाग अरावै छूटे । जे हरौल तिनके मन हूटे ॥
हटत हरौल भयौ भय भारौ । पैठ्यौ चंचल चुटक छतारौ ॥

दोहा

सिंहनाद गल गर्जि कै, भंज उठ्यौ भट भीर ।
छता वीर-रस उमग मैं, गनै न गोली तीर ॥ ४ ॥

छंद

गनै न गोली तीर छतारौ । देखत देव अचंभौ भारौ ॥
एक बीर सहसन पर धावै । हाथ और को उठन न पावै ॥
संगिन मारि करी घमसानी । समर भूमि स्रोनित सौं सानी ॥
नची छता की जोर कृपानी । किलकी उमगि कालिका रानी ॥
सँग के सुभट युद्ध मैं जूटे । भीर परै तिन सौं सँग छूटे ॥
फारत फौज छता अवलोक्यो । उदभट रुकै कौन को रोक्यौ ॥

उमगि भरै अरि कौ दल भानौ । घाउ लगत तन तनक न जानौ ॥
घाइ खाइ छत्ता रन जीत्यौ । अरि पद प्रलै काल सौं बीत्यौ ॥

दोहा

बिरझानौ चंपति बली, समर भयानक ठान ।
झझरि भीर अरि की भगी, काल रुद्र उर आन ॥ ५ ॥

छंद

बैरी भगे मानि भय भारी । परे बिडर ज्यौं बाघ बिडारी ॥
बिडरत अरि के कटक निहारे । तब नवाब के बजे नगारे ॥
पाई फतै परे तह डेरा । तौ लगि भई साँझ की बेरा ॥
सब कौ मिले सबनि के संगी । बिछुरौ एक छता रनरंगी ॥
रन-मंडल संगिन सब हेर्‌यौ । चकित चित चारिहुँ दिसि फेर्‌यौ ॥
निस के पहर कलप से बीते । मिल्यौ न बीर मनोरथ रीते ॥
बूझत खबर फिरै चहुँ फेरी । ताकत दिसा दाहिनी डेरी ॥
भूख प्यास की सुरत बिसारै । जीते जुद्ध तऊ मन हारै ॥

दोहा

मन हारै ढूँढत फिरै, कहाँ छतारे बीर ।
मिलौ आजु तौ है भली, नातर तजौं शरीर ॥ ६ ॥

छंद

मति सरीर तजिबे की कीन्ही । दीनदयाल बुद्धि उर दीन्ही ॥
एक बेर फिरि फेरी दीजै । चलौ चाह लसगर की लीजै ॥
चाह लैन लसगर की धाये । ऐकन तहँ ये वचन सुनाये ॥
हम बीसक असवार हथ्यारी । संग फौज के करी तयारी ॥
खेतु छाड़ि बैरी जब भागे । बहस बढ़ै हम पीछै लागे ॥
गये दूर दल तैं कढ़ि ज्योंही । सूरज चल्यौ अस्त कौं त्योंही ॥

तब बातैं मुरके सब भाई। सूरज सनमुख दिसा बताई॥
तहाँ एक कौतुक हम देख्यौ। जाकौ अचिरज जात न लेख्यौ॥

दोहा

जीन कस्यौ इक दूर तैं, देख्यौ तहाँ तुरंग।
ताके धरिबे को हियै, सब कै बढ़ी उमंग॥ ७॥

छंद

बढ़ि उमंग धरिबे कौ धाये। जब नजीक खेतक पर आये॥
घाइल तहाँ तक्यौ रस भीने। कढ़ी कृपान हाथ में लीनै॥
ताकी छिनक मूरछा जागै। छिनक जोग-निद्रा सो लागै॥
करै तुरी ताकी रखवारी। ढिग न जान पावै मसहारी॥
पूछ उठाइ चौर से टारै। जो ढिग आवै ताहि बिडारै॥
वाहि धरन धाये बहुतेरे। पहुँचे निकट दाहिने डेरे॥
जब तुरंग वह सनमुख धायौ। भज्यौ बिडर सो जीवत आयौ॥
यह सुनि सुभट छता के धाये। बिछुरे मनौ प्रान फिरि आये॥

दोहा

तौ लगि उदयाचल चढ़्यो, सूरज सिंदुर अंग।
त्यौं ही दौरी दूर लौं, सबकी नजर अभंग॥ ८॥

छंद

सब की नजर दूर लौं दौरी। चीन्हो तुरी तबै सब औरी॥
देख्यौ तहाँ तुरी बिरभानौ। स्वामि-धर्म कौ बाँधै बानौ॥
इन तुरंग की करी बड़ाई। नीकी तुमही सौं बनि आई॥
राति अकेले चौकी दीन्ही। हमते अधिक भक्ति तुम कीन्ही॥
जब तुरंग इहि भाँति लड़ायौ। संगी जान रोस बिसरायौ॥
निकट जाइ प्रभु कौं उन देख्यौ। जीवन जनम सुफल करि लेख्यौ॥

मुजरा करि सबही सिर नायौ । चेतन देखि हियै सुख पायौ ॥
जल मँगाइ प्रभु कौ मुख धोयौ । फतै सुनाइ समर श्रम खोयौ ॥

दोहा

करी काइजा तुरग की, सीच्यौ बदन बनाइ ।
डेरा ल्याये खेत तै, प्रभु कौ पान खवाइ ॥ ९ ॥

छंद

कोतल भयौ तुरी संग आयौ । जगत विदित जाकौ जस गायौ ॥
बाँधे घाइ कीर्त्ति जग जागी । दल में चाह चलन यह लागी ॥
सुनी नवाव चाह यह तैसी । आदि अंत तें बीती जैसी ॥
करी तुरी की बड़ी बड़ाई । ऐसौ करत भले जे भाई ॥
तातै ताकौ नाम नवीनौ । प्रगटि भले भाई कहि दीनौ ॥
जिन छत्रसाल करी घन घाई । तिनकी कछु चरचा न चलाई ॥
रीझन तैसी सब बिसराई । बाँकनि अपनी फतै लिखाई ॥
सुनत फतूह साह सुख पायो । वढ़ि नवाब कौ मनसिब आयौ ॥

दोहा

मनसिब बढ़्यौ नवाब कौ, दियौ साह सुख पाइ ।
छत्रसाल के भुजन की, को न कमाई खाइ ॥१०॥

—लाल कवि

(४०) बिहारीलाल के दोहे

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं, स्यामु हरित-दुति होइ॥ १॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु, बारक बारनु तारि॥ २॥

जम-करि-मुँह-तरहरि पर्‌यो, इहि धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ॥ ३॥

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिँ।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखि जाहिँ॥ ४॥

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईं हिँ न भूलि।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूलि॥ ५॥

बंधु भए का दीन के, को तार्‌यौ, रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ, झूठे बिरद कहाइ॥ ६॥

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ॥ ७॥

दियौ, सु सीस चढ़ाइ लै, आछी भाँति अएरि।
जापैं सुखु चाहतु लियौ, ताके दुखहिं न फेरि॥ ८॥

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति-बिदारनहार॥ ९॥

मकराकृति गोपाल कैं, सोहत कुंडल कान।
धर्‌यौ मनौ हिय-धर समरु, ड्यौढ़ी लसत निसान॥१०॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ॥११॥

जपमाला, छापैं, तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन-काँचै नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु ॥१२॥

घरु घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाचत जाइ।
दियैं लोभ चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ौ लखाइ ॥१३॥

मोहन-मूरति स्याम की, अति अद्‌भुत गति जोइ।
बसतु सु चित-अंतर तऊ, प्रतिबिंबितु जग होइ ॥१४॥

बड़े न हूजै गुननु बिनु, बिरद-बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़यौ न जाइ ॥१५॥

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग, पग पग होतु प्रयागु ॥१६॥

कीजै चित सोई, तरे जिहिं, पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गननु, गनौ न गोपीनाथ ॥१७॥

हरि, कीजति बिनती यहै, तुमसौं बार हजार।
जिहिं-तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ, पर्‌यौ रहौं दरबार ॥१८॥

गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजारु।
वहै सदा पसु नरनु कौं, प्रेम-पयोधि पगारु ॥१९॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब, अलि रही गुलाब मैं, अपत कँटीली डार ॥२०॥

मैं तपाइ त्रयताप सौं, राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहुँक आऐं यहाँ, पुलकि पसीजै स्यामु ॥२१॥

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु बृथा, देखि बिहंग बिचारि।

बाज पराएँ पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि ॥२२॥

सीस-मुकट, कटि-काछनी, कर-मुरली उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा, बसौ बिहारीलाल ॥२३॥

न ए बिससियहि लखि नए, दुर्जन दुसह-सुभाइ।
आँटैं परि प्राननु हरत, काँटैं लौं लगि पाइ ॥२४॥

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ ॥२५॥

बढ़त बढ़त संपति-सलिलु, मन-सरोजु बढ़ि जाइ।
घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥२६॥

कोरि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जलु ऊँचैं चढ़ै, अंत नीच कौ नीचु ॥२७॥

गुनी गुनी सबकैं कहैं, निगुनी गुनी न होतु।
सुन्यौ कहूँ तरु अरक तैं, अरक-समानु उदोत ॥२८॥

दुसह दुराज प्रजानु कौं, क्यौं न बढ़ै दुख-दंदु।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिलि मावस रबि-चंदु ॥२९॥

भजन कह्यौ तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूरी भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ, गँवार ॥३०॥

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु, दानु ॥३१॥

यह बरिया नहिं और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं, कीने पार पयोधि ॥३२॥

अति अगाधु, अति औथरौ, नदी, कूप, सरु, बाइ।
सो ताकौ सागरु जहाँ, जाकी प्यास बुझाइ ॥३३॥

मोर-मुकुट की चंद्रिकनु, यौं राजत नँद नंद।
मनु ससिसेखर की अकस, किय सेखर सत चंद ॥३४॥

अधर धरत हरि कैं परत, ओठ-डीठि-पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्र-धनुष रँग होति ॥३५॥

कहै यहै श्रुति सुम्रत्यौ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं, पातक, राजा, रोग ॥३६॥

जो सिर धरि महिमा महीं, लहियति राजा राइ।
प्रगटत जड़ता अपनि पै, सु मुकटु पहिरत पाइ ॥३७॥

को कहि सकै बड़ेनु सौं, लखैं बड़ी यौ भूल।
दीने दई गुलाब की, इन डारनु वे फूल ॥३८॥

समै समै सुंदर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ॥३९॥

या भव-पारावार कौं, उलँघि पार को जाइ।
तिय-छबि-छाया ग्राहिनी, ग्रहै बीचहीं आइ ॥४०॥

दिन दस आदरु पाइकै, करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग! सराध-पखु, तौ लगि तौ सनमानु ॥४१॥

मरतु प्यास-पिंजरा पर्‌यौ, सुआ समै कैं फेर।
आदरु दै दै बोलियतु, बाइसु बलि की बेर ॥४२॥

इहीं आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वैहैं फेरि बसंत ऋतु, इन डारनि वे फूल ॥४३॥

वे न इहाँ नागर बढ़ी, जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गवँई-गाँव गुलाब ॥४४॥
चल्यो जाइ, ह्याँ को करै, हाथिनु के व्यापार।

नहिं जानतु, इहिं पुर बसैं, धोबी, ओड़, कुँभार ॥४५॥

मूड़ चढ़ाए ऊ रहै, परयौ पीठि कच-भारु।
रहै गरैं परि राखिबौ, तउ हियैं पर हारु ॥४६॥

इक भीजैं, चहलैं परैं, बूड़ैं बहैं हजार।
किते न औगुन जग करै, वै-नै चढ़ती बार ॥४७॥

जाकैं एकाएक हूँ, जग व्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ फूलै फरै, आकु डहडहौ होइ ॥४८॥

मीत न नीति गलीतु है, जौ धरियै धनु जोरि।
खाऐं खरचैं जौ जुरै, तौ जोरियै करोरि ॥४९॥

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ, दीरघ-दाघ निदाघ ॥५०॥

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौंरत झपत, भौंर-भौंर मधु-अंध ॥५१॥

लट्टुवा लौं प्रभु-कर गहैं, निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी-कर तैं छुटैं, निगुनीयै ह्वै जाइ ॥५२॥

लोपे कोपे इंद्र लौं, रोपे प्रलय अकाल।
गिरिधारी राखे सबै, गो, गोपी, गोपाल ॥५३॥

चितु दै देखि चकोर-त्यौं, तीजैं भजै न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चंद-मयूख ॥५४॥

अपनैं अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबो, एकै नंदकिसोरु ॥५५॥

बुरौ बुराई जौ तजै, तौ चित खरौ डरातु।
ज्यौं निकलंकु मयंकु लखि, गनैं लोग उतपातु ॥५६॥

ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगौ सतर ह्वै गैन।
दीरघ होहिं न नैक हूँ, फारि निहारैं नैन ॥५७॥

तौ, बलियै, भलियै बनी, नागर नंदकिसोर
जौ तुम नीकैं कै लख्यौ, मो करनी की ओर ॥५८॥

मन मोहन सौं मोहु करि, तूँ घनस्यामु निहारि।
कुंज-बिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि ॥५९॥

किती न गोकुल-कुलवधू, किहिं न काहि सिख दीन।
कौने तजी न कुल-गली, ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥६०॥

इन दुखिया अँखियानु कौं, सुखु सिरज्यौई नाहिं।
देखैं बनैं न देखतै, अनदेखैं अकुलाहिं ॥६१॥

को न छुट्यौ इहिं जाल परि, कत, कुरंग, अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात ॥६२॥

चिरजीवौ जोरी, जुरै, क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥६३॥

ज्यौं ह्वैहौ, त्यौं होऊँगौ, हौं हरि, अपनी चाल।
हठु न करौ, अति कठिनु है, मो तारिबौ, गोपाल ॥६४॥

—बिहारीलाल



(४१) सूरदास के पद

हौं हरि सब पतितन को नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी, और नहीं कोउ लायक॥
जैसो तुम अजामेलि को दीनो, सोइ पटो लिखि पाऊँ।
तौ विस्वास होइ मन मेरे, औरो पतित बुलाऊँ॥
सिमिटे जहाँ तहाँ सब कोऊ, आय जुरे इक ठौर।
अब के इतने आन मिलाऊँ, बेर दूसरी और॥
होड़ाहोड़ी मन हुलास करि, करे पाप भरि पेट।
सबै पतित पाँयन तर डारों, इहै हमारी भेंट॥
बहुत भरोसो जानि तुम्हारो, अघ कीन्हें भरि भाँड़ो।
लीजै नाथ निवेर तुरंतहिं, 'सूर' पतित को टाँड़ो॥ १॥

प्रभु मैं सब पतितन को टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि के, मैं तौ जन्मत ही कौ॥
बधिक अजामिलि गनिका त्यारी, और पूतना ही कौ।
मोहिं छाँड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यों जी कौ॥
कोउ न समरथ अब करिबे को, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज 'सूर' पतितनि में, कहत सबन में नीकौ॥ २॥

ऐसो कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ मनोरथ दाता, हौ प्रभु दीन-दयाल॥
चित्त निरंतर चरनन अनुरत, रसना चरित रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन, कर कंजनि-दल माल॥
ऐसे रहत, लिखै छिनु छिनु जम, अपनौ भायौ जाल।
'सूर' सुजस-रागी न डरत मन, सुनी जातना कराल॥ ३॥

प्रभु मेरे औगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो, अपने पनहि करो।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो॥
यह दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरो॥
एक नदिया एक नार कहावत, मैलो नीर भरो।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भए, सुरसरि नाम परो॥
एक जीव इक ब्रह्म कहावत 'सूर' स्याम झगरो।
अबकी बेर मोहिं पार उतारो, नहिं पन जात टरो॥ ४॥

———

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरी जहाज पर आवै॥
कमलनैन को छाँड़ि महातम, और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो, दुरमति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो, क्यों करील फल खावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥ ५॥

———

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती वार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बेनी, ज्यौं ह्वैहै लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत ओंछत, नागिनि सी भुँइ लोटी॥
काचो दूध पिआवत पचि पचि, देत न माखन रोटी।
'सूर' स्याम चिरजिव दोउ भैया, हरि हलधर की जोटी॥

———

बलि बलि जाउँ मधुर सुर गावहु।
अबकी बार मेरे कुँवर कन्हैया, नंदहि नाच देखावहु॥

तारी देहु आपने कर की, परम प्रीति उपजावहु।
आन जंत्र धुनि सुनि डरपत कत, मो भुज कंठ लगावहु ॥ ७ ॥
जनि संका जिय करो लाल मेरे, काहे को भरमावहु।
बाँह उँचाइ कालि की नाईं, धौरी धेनु बुलावहु ॥
नाचहु नेकु जाउँ बलि तेरी, मेरी साध पुरावहु।
रतनजटित किंकिनि पग नूपुर, अपने रंग बजावहु ॥
कनक खंभ प्रतिबिंबित सिसु इक, लौनी ताहि खवावहु।
'सूर' स्याम मेरे उर ते कहुँ, टारे नेकु न भावहु ॥ ८ ॥

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत, रेणु तन मंडित, मुख दधिलेप किए ॥
चारु कपोल लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि मनो मत्त मधुपगन, मादक मदहि पिए ॥
कँठुला कंठ वज्र, केहरि-नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य 'सूर' एकौ पल या सुख, का सत कल्प जिए ॥ ९ ॥

किहि बिधि करि कान्है समुझैहौं।
मैं ही भूलि चंद दिखरायो, ताहि कहत "मोहि दै, मैं खैहौं" ॥
अनहोनी कहुँ होत कन्हैया! देखी सुनी न बात।
यह तौ आहि खिलौना सबको, खान कहत तेहि तात ॥
यहै देत लवनी नित मोको, छिन छिन साँझ सबारे।
बार बार तुम माखन माँगत, देउँ कहाँ ते प्यारे ॥
देखत रहौ खिलौना चंदा, आरि न करो कन्हाई।
'सूर' स्याम लियो महरि जसोदा, नंदहिं कहत बुझाई ॥ १० ॥

विधातहिं चूक परी मैं जानी।
आजु गोविंदहिं देखि देखि हौं, इहै समुझि पछितानी ॥
रचि पचि सोचि सँवारि सकल अंग, चतुर चतुरई ठानी।
दीठि न दई रोम रोमनि प्रति, इतनिहिं कला नसानी ॥
कहा करौं अति सुख दुइ नैना, उमँगि चलत भरि पानी ।
'सूर' सुमेर समाइ कहाँ धौं, बुधि बासनी पुरानी ॥११॥

मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुन री सखी जदपि नँदनंदहिं, नाना भाँति नचावति ॥
राखति एक पायँ ठाढ़ो करि, अति अधिकार जनावति ।
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु, कटि टेढ़ी ह्वै जावति ॥
अति आधीन सुजान कनौड़े, गिरधर नारि नवावति ।
आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर, कर-पल्लव सन पद पलुटावति ॥
भृकुटी कुटिल फरक नासा पुट, हम पर कोपि कुपावति ।
'सूर' प्रसन्न जानि एको छिन, अधर सु सीस डुलावति ॥१२॥

बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजैं ।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं ॥
बृथा वहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलै अलि गुंजैं ।
पवन, पानि, घनसार, सजीवनि, दधिसुत किरन भानु भईं भुंजैं ॥
ये ऊधो कहियो माधव सों, बिरह करद कर मारत लुंजैं ।
'सूरदास' प्रभु को मग जोवत, अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं ॥१३॥

दूर करहु बीना कर धरिबो ।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चंद्र को ढरिबो ॥

बीती जाहि पै सोई जानै, कठिन है प्रेम-पास को परिबो।
जब तें बिछुरे कमल-नयन सखि, रहत न नयन-नीर को गरिबो॥
सीतल चंद अगिन सम लागत, कहिए धीर कौन विधि धरिबो।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, सब झूठो जतननि को करिबो॥१४॥

निसि दिन बरसत नैन हमारे।

सदा रहत पावस ऋतु हम पै, जब तें स्याम सिधारे॥
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर कपोल भए कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी, उर-बिच बहत पनारे॥
'सूरदास' प्रभु अंबु बढ़यो है, गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्याम घन सुंदर, बिकल होत अति भारे॥१५॥

ऐसो माई एक कोद को हेत।

जैसे बसन कुसुम रँग मिलि कै, नेकु चटक पुनि सेत॥
जैसे करनि किसान बापुरो, नौ नौ बाहैं देत।
एते ही पै नीर निठुर भयो, उमँगि आय सब लेत॥
सब गोपी भाखैं ऊधो सों, सुनियो बात सचेत।
'सूरदास' प्रभु जन तें बिछुरे, ज्यों कृत राई रेत॥१६॥

—सूरदास

[मदिरा छंद]

राम को काम कहा ? रिपु जीतहिं ,
कौन कबै रिपु जीत्यो कहाँ ?
बालि बली, छल सों, भृगुनंदन ,
गर्व हरो, द्विज दीन महा ॥
दीन सो क्यों ? छिति छत्र हत्यो ,
बिन प्राणनि हैहयराज कियो ।
हैहय कौन ? वहै बिसरयो जिन ,
खेलत ही तुम्हैं बाँधि लियो ॥

अंगद— [विजय छंद]

सिंधु तरयो उनको बनरा, तुम पै धनुरेख गई न तरी ।
बाँध्योइ बाँधत सो न बँध्यो, उन वारिधि बाँधि कै बाट करी ॥
अजहूँ रघुनाथ प्रताप की बात, तुम्हैं दशकंठ न जानि परी ।
तेलनि तूलनि पूँछि जरी न जरी, जरी लंक जराइ जरी ॥

रावण—

नील सुखेन हनू उनके नल, और सबै कपि पुंज तिहारे ।
आठहु आठ दिशा बलि दै, अपनो पदु लै पितु जालगि मारे ॥
तोसे सपूतहि जाइ कै बालि, अपूतन की पदवी पगु धारे ।
अंगद संग लै मेरो सबै दल, आजुहि क्यों न हनै बपमारे ॥

[दोहा]

जो सुत अपने बाप को, बैर न लेइ प्रकाश ।
तासों जीवत ही मरयो, लोग कहैं तजि त्रास ॥

अंगद—इनको विलगु न मानिये, सुनि रावण पल आधु ।
पानी पावक पवन प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु ॥

[द्रुतविलंबित छंद]

रावण—उरसि अंगद लाज कछू गहौ। जनक-घातक बात वृथा कहौ ॥
सहित लछमण रामहिं संहरौं। सकल वानर राज तुम्हैं करौं ॥

[निशिपालिका छंद]

अंगद—शत्रु सम मित्र हम चित्त पहिचानहीं।
दूत विधि नूल कबहूँ न उर आनहीं ॥
आप मुख देखि अभिलाष अभिलापहू।
राखि भुज शीश तव और कहँ राखहू ॥

[भुजंगप्रयात छंद]

रावण—महा मीचु दासी सदा पाइँ धोवै।
प्रतीहार ह्वै कै कृपा सूर जोवै ॥
छपानाथ लीन्हें रहै छत्र जाको।
करैगो कहा शत्रु सुग्रीव ताको ॥
सका मेघमाला शिखी पाककारी।
करै कोतवाली महादंड-धारी ॥
पढ़ै वेद ब्रह्मा सदा द्वार जाके।
कहा बापुरो शत्रु सुग्रीव ताके ॥

[विजय छंद]

अंगद—पेट चढ़्यो पलना पलिका चढ़ि,
पालकि हू चढ़ि मोह मढ़्यो रे।
चौक चढ़्यो चित्रसारी चढ़्यो,
गज वाजि चढ़्यो गढ़ गर्व चढ़्यो रे।
व्योम विमान चढ़्यो ई रह्यौ,
कहि 'केशव' सो कबहूँ न पढ़्यो रे।

चेतत नाहीं रह्यो चढ़ि चित्त सों,
चाहत मूढ़ चिताहू चढ़्यो रे ॥

[भुजंगप्रयात छंद]

रावण—निकार्‌यो जो भैया लियो राज जाको।
दियो काढ़िकै जू कहा त्रास ताको ॥
लिये बानराली कहौं बात तोसों।
सो कैसे लरै राम संग्राम मोसों ॥

[विजय छंद]

अंगद—हाथी न साथी न घोरे न चेरे, न गाउँ न ठाउँ को ठाउँ बिलैहै ।
तात न मात न पुत्र न मित्र, न वित्त न तीय कहीं सँग रैहै ॥
'केशव' काम को राम बिसारत, और निकाम न कामहि ऐहै ।
चेति रे चेति अजौं चित अंतर, अंतकलोक अकेलोई जैहै ॥

[भुजंगप्रयात छंद]

रावण—डरै गाय विप्रै अनाथै जो भाजै।
पर द्रव्य छोड़ै पर स्त्रीहि लाजै ॥
पर द्रोह जासों न होवै रती को।
सु कैसे लरै वेष कीन्हें यती को ॥

[दोहा]

गेंद करेउँ मैं खेल को, हर गिरि केशोदास।
शीश चढ़ाये आपने, कमल समान सहास ॥

[दंडक]

अंगद—जैसो तुम कहत उठायो एक गिरिवर,
ऐसे कोटि कपिन के बालक उठावहीं।

काटे जो कहत शीश काटत घनेरे घाघ,
भगर के खेले कहा भट पद पावहीं।
जीत्यो जो सुरेश रण शाप ऋषि नारि ही को,
समुझहु हम द्विज नाते समुझावहीं।
गहो राम पायँ सुख पाइ करैं तपी तप,
सीताजू को देहु देव दुंदुभी बजावहीं॥

[वंशस्थ छंद]

रावण—तपी जपी विप्रनि छिप्र ही हरौं।
अदेव-द्वेषी सब देव संहरौं॥
सिया न देहौं यह नेम जी धरौं।
अमानुषी भूमि अवानरी करौं॥

[विजय छंद]

अंगद—पाहन ते पतिनी करि पावन, टूक कियो हर को धनु को रे।
छत्र-विहीन करी छण में छिति, गर्व हर्‌यो तिनके बल को रे॥
पर्वत-पुंज पुरैनि के पात, समान तरे अजहूँ धरको रे।
होइँ नरायण हूँ पै न ये गुण, कौन इहाँ नर वानर को रे॥

[चंचरी छंद]

रावण—देहिं अंगद राज तोकहँ, मारि वानरराज को।
बाँधि देहिं विभीषणो अरु, फोरि सेतु समाज को॥
पूँछ जारहिं अच्छरिपु की, पाइँ लागहिं रुद्र के।
सीय को तब देहुँ रामहिं, पार जाइँ समुद्र के॥
अंगद—लंक लाइ गयो बली हनुमंत संतन गाइयो।
सिंधु बाँधत शोधि कै नल छीर छीट बहाइयो॥

ताहि तोहिं समेत अंध उखारि हौं उलटी करौं।
आजु राज कहाँ विभीषण बैठिहैं तेहि ते डरौं॥

[दोहा]

अंगद रावण को मुकुट, लै करि उड़्यो सुजान।
मनो चलो यमलोक को, दशशिर को प्रस्थान॥
अंगद लै वा मुकुट को, परे राम के पाइ।
राम विभीषण के शिरसि, भूषित कियो बनाइ॥

—केशवदास



(४३) गोरा बादल की कथा

गोरा बादल बीरा लीन्हा।
जस हनुवँत अंगद बर कीन्हा॥
'कँवल-चरन भुइँ धरि दुख पावहु।
चढ़ि सिंघासन मँदिर सिधावहु'॥
सुनतहि सूर कँवल हिय जागा।
केसरि-बरन फूल हिय लागा॥
जनु निसि महँ दिन दीन्ह देखाई।
भा उदोत, मसि गई बिलाई॥
बादल केरि जसोवै माया।
आइ गहेसि बादल कर पाया॥
'बादल राय, मोर तुइ बारा।
का जानसि कस होइ जुझारा॥
बादसाह पुहुमी-पति राजा।
सनमुख होइ न हमीरहि छाजा॥
जहाँ दलपती दलि मरहिं, तहाँ तोर का काज?
आजु गवन तोर आवै, बैठि मानु सुख राज'॥
'मातु न जानसि बालक आदी।
हौं बादला सिंह रनबादी॥
सुनि गज-जूह अधिक जिउ तपा।
सिंघ क जाति रहै किमि छपा?॥
तौ लगि गाज, न गाज सिंघेला।
सौंह साह सौं जुरौं अकेला॥
को मोहिं सौंह होइ मैमंता।
फारौं सूँड़, उखारौं दंता॥

जुरौं स्वामि सँकरे जस ढारा।
पेलौं जस दुरजोधन भारा॥
अंगद कोंपि पाँव जस राखा।
टेकौं कटक छतीसौ लाखा॥
हनुवँत सरिस जंघ बर जोरौं।
दहौं समुद्र, स्वामि-बँदि छोरौं॥

सो तुम, मातु जसोवै, मोहिं न जानहु बार।
जहँ राजा बलि बाँधा; छोरौं पैठि पतार'॥

बादल गवन जूझ कर साजा।
तैसहि गवन आइ घर बाजा॥
का बरनौं गवने कर चारू।
चंद्रबदनि रचि कीन्ह सिंगारू॥
मानि गवन सो घूँघुट काढ़ी।
बिनवै आइ बार भइ ठाढ़ी॥
मुख फिराइ मन अपने रीसा।
चलत न तिरिया कर मुख दीसा॥
तब धनि बिहँसि कहा गहि फेंटा।
'नारि जो बिनवै कंत न मेटा॥
आजु गवन हौं आई, नाहाँ।
तुम न, कंत, गवनहु रन माहाँ॥
धनि न नैन भरि देखा पीऊ।
पिउ न मिला धनि सौं भरि जीऊ'॥

पायँन्ह धरा लिलाट धनि, 'बिनय सुनहु, हो राय'।
अलक परी फँदवार होइ, कैसेहु तजै न पाय॥

'छाँड़ि फेंट धनि' बादल कहा।
'पुरुष-गवन धनि फेंट न गहा॥
जौ तुइ गवन आइ, गजगामी।
गवन मोर जहँवाँ मोर स्वामी॥
जौ लगि राजा छूटि न आवा।
भावै वीर, सिंगार न भावा॥
तिरिया भूमि खड़ग कै चेरी।
जीत जो खड़ग होइ तेहि केरी॥
जेहि घर खड़ग मोंछ तेहि गाढ़ी।
जहाँ न खड़ग मोंछ नहिं दाढ़ी॥
तब मुँह मोंछ, जीउ पर खेलौं।
स्वामि-काज इंद्रासन पेलौं॥
पुरुष बोलि कै टरै न पाछू।
दसन गयंद, गीउ नहिं काछू॥

तुइ अबला, धनि, कुबुधि बुधि, जानै कहा जुझार।
जेहि पुरुषहि हिय बीर रस, भावै तेहि न सिंगार'॥

एकौ बिनति न मानै नाहाँ।
आगि परी चित उर धनि माहाँ॥
उठा जो धूम नैन करुवाने।
लागे परै आँसु झहराने॥
भींजे हार, चीर, हिय चोली।
रही अछूत कंत नहिं खोलि॥
'जौ तुम कंत' जूझ जिउ काँधा।
तुम किय साहस, मैं सत बाँधा॥

रन संग्राम जूझि जिति आवहु।
लाज होइ जौ पीठि देखावहु'॥
मतैं बैठि बादल औ गोरा।
सो मत कीजै परै नहिं भोरा॥
जस तुरकन्ह राजा छर साजा।
तस हम साजि छोड़ावहिं राजा॥

पुरुष तहाँ पै करै छर, जहँ बर किए न आँट।
जहाँ फूल तहँ फूल है, जहाँ काँट तहँ काँट॥

सोरह सै चंडोल सँवारे।
कुँवर सजोइल कै बैठारे॥
पद्मावति कर सजा बिवानू।
बैठ लोहार न जानै भानू॥
रचि बिबान सो साजि सँवारा।
चहुँ दिसि चँवर करहिं सब ढारा॥
साजि सबै चंडोल चलाए।
सुरँग ओहार, मोति बहु लाए॥
भए सँग गोरा बादल बली।
कहत चले पदमावति चली॥
हीरा रतन पदारथ झूलहिं।
देखि बिबान देवता भूलहिं॥
सोरह सै सँग चलीं सहेली।
कँवल न रहा और को बेली?

राजहिं चलीं छोड़ावै, तहँ रानी होइ ओल।
तीस सहस तुरि खिंचीं, सँग सोरह सै चंडोल॥

राजा बँदि जेहि के सौंपना।
गा गोरा तेहि पहँ अगमना॥
टका लाख दस दीन्ह अँकोरा।
बिनती कीन्ह पायँ गहि गोरा॥
बिनवौ बादसाह सौं जाई।
अब रानी पदमावति आई॥
'बिनती करै आइ हौं दिल्ली।
चितउर कै मोहि स्यो है किल्ली॥
बिनती करै जहाँ है पूँजी।
सब भँडार कै मोहि स्यो कूँजी॥
एक घरी जौ अग्या पावौं।
राजहिं सौंपि मँदिर महँ आवौं'॥
तब रखवार गए सुलतानी।
देखि अँकोर भए जस पानी॥

लीन्ह अँकोर हाथ जेहि, जीउ दीन्ह तेहि हाथ।
जहाँ चलावै तहँ चलै, फेरे फिरै न माथ॥

लोभ पाप कै नदी अँकोरा।
सत्त न रहै हाथ जौ बोरा॥
जहँ अँकोर तहँ नीक न राजू।
ठाकुर केर बिनासै काजू॥
भा जिउ घिउ रखवारन्ह केरा।
दरब लोभ चंडोल न हेरा॥
जाइ साह आगे सिर नावा।
'ए जगसूर, चाँद चलि आवा॥

जावत हैं सब नखत तराईं।
सोरह सै चंडोल सो आईं॥
चितउर जेति राज कै पूँजी।
लेइ सो आइ पदमावति कूँजी॥
बिनती करै जोरि कर खरी।
लेइ सौंपों राजा एक घरी॥

इहाँ उहाँ कर स्वामी, दुऔ जगत मोहिं आस।
पहिले दरस देखावहु, तौ पठवहु कैलास'॥

आग्या भई, जाइ एक घरी।
छूँछि जो घरी फेरि विधि भरी॥
चलि बिबान राजा पहँ आवा।
सँग चंडोल जगत सब छावा॥
पदमावति के भेस लोहारू।
निकसि काटि बँदि कीन्ह जोहारू॥
उठा कोपि जस छूटा राजा।
चढ़ा तुरंग, सिंघ अस गाजा॥
गोरा बादल खाँडे काढ़े।
निकसि कुँवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े॥
तीख तुरंग गगन सिर लागा।
केहुँ जुगुति करि टेकी बागा॥
जो जिउ ऊपर खड्ग सँभारा।
मरनहार सो सहसन्ह मारा॥

भई पुकार साह सौं, 'ससि औ नखत सो नाहिं।
छर कै गहन गरासा, गहन गरासे जाहिं'॥

लेइ राजा चितउर कहँ चले।
छूटेउ सिंघ, मिरिग खलभले॥
चढ़ा साहि, चढ़ि लाग गोहारी।
कटक असूझ परी जग कारी॥
फिरि गोरा बादल सों कहा।
'गहन छूटि पुनि चाहै गहा॥
चहुँ दिसि आवै लोपत भानू।
अब इहै गोइ, इहै मैदानू॥
तुइ अब राजहि लेइ चलु, गोरा।
हौं अब उलटि जुरौं भा जोरा॥
वह चौगान तुरुक कस खेला।
होइ खेलार रन जुरौं अकेला॥
तौ पावौं बादल अस नाऊँ।
जो मैदान गोइ लेइ जाऊँ॥

आजु खड़ग चौगान गहि, करौं सीस रिपु गोइ।
खेलौं सौंह साह सौं, हाल जगत महँ होइ'॥

तब अगमन होइ गोरा मिला।
'तुइ राजहि लेइ चलु, बादला'॥
'पिता मरै जो सँकरे साथा।
मीचु न देइ पूत के माथा॥
मैं अब आउ भरी औ भूँजी।
का पछिताव आउ जौ पूजी?
बहुतन्ह मारि मरौं जौ जूझी।
तुम जिनि रोएहु तौ मन बूझी'॥

कुँवर सहस सँग गोरा लीन्हे।
और बीर बादल सँग कीन्हे॥
गोरहि समदि मेघ अस गाजा।
चला लिए आगे करि राजा॥
गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा।
पूरुष देखि चाव मन बाढ़ा॥

आव कटक सुलतानी, गगन छपा मसि माँझ।
परति आव जग कारी, होति आव दिन साँझ॥

फिरि आगे गोरा तब हाँका।
'खेलौं, करौं आजु रन-साका॥
हौं कहिए धौलागिरि गोरा।
टरौं न टारे, अंग न मोरा॥
सोहिल जैस गगन उपराहीं।
मेघ-घटा मोहिं देखि बिलाहीं॥
सहसौ सीस सेस सम लेखौं।
सहसौ नैन इंद्र सम देखौं॥
चारिउ भुजा चतुरभुज आजू।
कंस न रहा, और को साजू॥
हौं होइ भीम आजु रन गाजा।
पाछे घालि डुँगवै राजा॥
होइ हनुवत जमकातर ढाहौं।
आजु स्वामि साँकरे निबाहौं॥

होइ नल नील आजु हौं, देहुँ समुद महँ मेंड़।
कटक साह कर टेकौं, होइ सुमेरु रन बेंड़'॥

ओनई घटा चहूँ दिसी आई।
छूटहिं बान मेघ झरि लाई॥
डोलै नाहिं देव जस आदी।
पहुँचे आइ तुरुक सब बादी॥
हाथन्ह गहे खड़ग हरद्वानी।
चमकहिं सेल बीजु कै पानी॥
सोझ बान जस आवहिं गाजा।
बासुकि डरै सीस जनु बाजा।
नेजा उठे डरै मन इंदू।
आइ न बाज जानि कै हिंदू।
गोरै साथ लीन्ह सब साथी।
जस मैमंत सूँड़ बिनु हाथी॥
सब मिलि पहिलि उठौनी कीन्ही।
आवत आइ हाँकि रन दीन्ही॥

रुंड मुंड अब टूटहिं, स्यों बखतर औ कूँड़।
तुरय होहिं बिनु काँधे, हस्ति बोहिं बिनु सूँड़॥

भइ बगमेल, सेल घनघोरा।
औ गज-पेल, अकेल सो गोरा॥
सहस कुँवर सहसौ सत बाँधा।
भार-पहार जूझ कर काँधा॥
लगे मरै गोरा के आगे।
बाग न मोर घाव मुख लागे॥
जैस पतंग आगि धँसि लेई।
एक मुवै, दूसर जिउ देई॥

टूटहिं सीस, अधर धर मारै।
लोटहिं कंधहिं कंध निरारै॥
कोई परहिं रुहिर होइ राते।
कोई घायल घूमहिं माते॥
कोइ खुरखेह गए भरि भोगी।
भसम चढ़ाइ परे होइ जोगी॥

घरी एक भारत भा, भा असवारन्ह मेल।
जूझि कुँअर सब निबरे, गोरा रहा अकेल॥

गोरै देख साथि सब जूझा।
आपन काल नियर भा, बूझा॥
कोपि सिंघ सामुहँ रन मेला।
लाखन्ह सौं नहिं मरै अकेला॥
लेइ हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा।
जैसे पवन बिदारै घटा॥
जेहि सिर देइ कोपि करवारू।
स्यों घोड़े टूटै असवारू॥
लोटहिं सीस कबंध निनारे।
माठ मजीठ जनहुँ रन ढारे॥
खेलि फाग सेंदुर छिरकावा।
चाँचरि खेलि आगि जनु लावा॥
हस्ती घोड़ धाइ जो धूका।
ताहि कीन्ह सो रुहिर भभूका॥

भइ अग्या सुलतानी, 'बेगि करहु एहि हाथ।
रतन जात है आगें, लिए पदारथ साथ'॥

सबै कटक मिलि गोरहि छेका।
गूँजत सिंघ जाइ नहिं टेका
जेहि दिसि उठै सोइ जनु खावा।
पलटि सिंघ तेहि ठाँव न आवा॥
सिंघ जियत नहिं आपु धरावा।
मुए पाछ कोई घिसियावा॥
करै सिंघ मुख-सौंहहिं दीठी।
जौ लगि जियै देइ नहिं पीठी॥
सरजा वीर सिंघ चढ़ि गाजा।
आइ सौंह गोरा सौं बाजा॥
पहुँचा आइ सिंघ असवारू।
जहाँ सिंघ गोरा बरियारू॥
मारेसि साँग पेट महँ धँसी।
काढ़ेसि हुमुकि आँति भुइ खसी॥

भाँट कहा 'धनि गोरा, तू भा रावन राव।
आँति समेटि बाँधि कै, तुरय देत है पाव'॥

कहेसि अंत अब भा भुइँ परना।
अंत न खसे खेह सिर भरना॥
कहिक गरजि सिंघ अस धावा।
सरजा सारदूल पहँ आवा॥
सरजै लीन्ह साँग पर घाऊ।
परा खड़ग जनु परा निहाऊ॥
दूसर खड़ग कंध पर दीन्हा।
सरजै ओहि ओड़न पर लीन्हा॥

तीसर खड्ग कूँड़ पर लावा।
काँध गुरुज हुत, घाव न आवा॥
तब सरजा कोपा बरिबंडा।
जनहु सदूर केर भुज-दंडा॥
कोपि गरजि मारेसि तस बाजा।
जानहु परी टूटि सिर गाजा॥

गोरा परा खेत महँ, सुर पहुँचाआ पान।
बादल लेइगा राजा, लेइ चितउर नियरान॥

—मलिक मुहम्मद जायसी



परिशिष्ट



(१) अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम' का जन्म सं० १६१० में हुआ था। ये अकबर के अभिभावक खानखाना के पुत्र थे। ये बड़े कवि और दानी थे। गंग कवि को इन्होंने एक बार छत्तीस लाख रुपये का पुरस्कार दिया था। इन्होंने संस्कृत, हिंदी और फारसी सभी भाषाओं में अच्छी कविता की है। इनके दोहे और बरवै प्रसिद्ध हैं। बरवै छंद में इन्होंने नायिका-भेद भी लिखा है। इनकी गोसाईं तुलसीदासजी से बड़ी घनिष्ठता थी। ये अकबरी दरबार के रत्न थे। ये उनके सेनापति और मंत्री थे। पीछे ये जहाँगीर के विरुद्ध हो गए थे। इससे ये क़ैद कर लिये गए और इनकी जागीर छीन ली गई। पर फिर इन्हें क्षमा मिल गई। सं० १६८६ में ये विद्रोही महावतखाँ के विरुद्ध भेजे गए। परंतु मार्ग ही में इनका स्वर्गवास हो गया।

(२) पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय अगस्त्य-गोत्री, शुक्ल-यजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण हैं। इनका जन्म सं० १९२२

में आज़मगढ़ ज़िले के क़स्बा निज़ामाबाद में हुआ। इन्होंने सं० १९३६ में वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा पास की और सं० १९४४ में नार्मल। घर पर इन्हें संस्कृत और फारसी की भी शिक्षा मिली थी। पहले ये अपने ही क़स्बे के तहसीली स्कूल में अध्यापक हुए। पीछे इन्होंने कानूनगोई पास की और कानूनगो बनाए गए। पेंशन लेते समय ये सदर कानूनगो थे। फिर विश्व-विद्यालय में हिंदी के अवैतनिक अध्यापक हुए। कविता के क्षेत्र में उपाध्यायजी का स्थान बहुत ऊँचा है। आपका 'प्रिय-प्रवास' एक अत्यंत सुंदर महाकाव्य है, जिसमें प्रेम की मधुर व्यंजना के साथ-साथ समाज-सेवा का ऊँचा आदर्श दिखाया गया है। 'प्रिय-प्रवास' में मधुर और कोमल संस्कृत पदावली का उपयोग किया गया है। उपाध्यायजी ने बोल-चाल की भाषा में भी बड़ी चुटीली उक्तियाँ कही हैं। इन पिछली रचनाओं में इन्होंने मुहावरों और कहावतों का बड़ा फबता प्रयोग किया है। इन रचनाओं का 'चोखे चौपदे' 'चुभते चौपदे' और 'बोल चाल' इन तीन ग्रंथों में संग्रह किया गया है। इसी तरह उपाध्यायजी के गद्य-लेखों में भी दो शैलियाँ मिलती हैं।

(३) कबीरदास का जन्म मगहर ज़िला बस्ती में हुआ था। कब ? इसका निश्चय नहीं। कोई सं० १४५६ में मानते हैं और कोई सं० १४९७ में। कबीर जाति के मुसलमान

जुलाहा थे। उनके पिता का नाम नूरुद्दीन और माता का नीमा कहा जाता है। जब इनकी अवस्था थोड़ी ही थी, इनके पिता परिवार-सहित काशी चले आए। कुछ लोग उनका जन्म लहरतारा, काशी में ही मानते हैं। वहाँ वे साधुओं के सत्संग में रहने लगे। अपना सारा रहन-सहन उन्होंने हिंदुओं के ऐसा कर लिया। उनके हृदय में वैराग्य जग गया था। उनकी जिज्ञासा बहुत बढ़ने लगी। स्वामी रामानंदजी उन दिनों काशी में थे। कबीर ने उन्हें अपना गुरु बनाया। उन्होंने सूफियों का भी सत्संग किया था। उन्होंने अपना अलग पंथ चलाया जिसमें वेदांत और सूफी मत के आधार पर सब की एकता सिद्ध की गई थी। यही कबीर पंथ कहलाया। कबीर की शिक्षाएँ बीजक ग्रंथ में संगृहीत हैं। बीजक में तीन प्रधान खंड हैं—साखी, सबद और रमैणी। हिंदू-मुसलमान दोनों ने कबीर की शिक्षाएँ ग्रहण कीं और दोनों ही के पुरोहितों ने उसका विरोध किया। सिकंदर लोदी के पास जब फर्याद पहुँची तो उसने इन्हें काशी से निकलवा दिया। फिर ये मगहर चले गए और वहीं सं० १५७५ में इनकी मृत्यु हुई।

(४) पंडित कामताप्रसाद गुरु कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए। इनका जन्म सं० १९३२ में सागर में हुआ। इनकी शिक्षा सागर में हुई, जहां से सन् १८९२ में इन्होंने इंट्रेंस पास किया और शिक्षा-विभाग में नौकर हो गए। सन् १८९५

में रायपुर में इनकी बदली हुई और उसी काम में कई जगह बदली होती रही। बीच में एक वर्ष तक 'बालसखा' का संपादन भी इन्होंने किया। इन्हें व्याकरण से बड़ी रुचि है और उस विषय पर इन्होंने एक बड़ा ग्रन्थ और कई छोटे २ ग्रंथ लिखे हैं। इसी कारण लोग इनको व्याकरणाचार्य की उपाधि से भूषित करते हैं। इनकी रहन-सहन बहुत सादी और स्वभाव सत्यप्रिय तथा विनोदी है। अब पैंशन लेकर ये जबलपुर में बस गए हैं।

(५) केशवदास का जन्म विक्रम सं० १६१२ में ओड़छा के एक सनाढ्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनके घराने में बराबर संस्कृत के अच्छे पंडित होते आए थे। ये अपने समय में प्रधान साहित्य-शास्त्रज्ञ कवि माने जाते थे। इनके समय से कुछ पूर्व ही रस, अलंकार आदि काव्यांगों के निरूपण की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट हो चुका था। संस्कृत के विद्वान् होने से इन्होंने भी अलंकार और रस-शास्त्र पर क्रमशः 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नामक ग्रंथ लिखे। इनके प्रबंध-काव्य 'रामचंद्रिका' की भी, जिसका एक अंश इस संकलन में उद्धृत है, पर्याप्त प्रसिद्धि है। इसमें अलंकारों की बहुत भरमार है और संबंध-निर्वाह जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सका। जान पड़ता है कि यह ग्रंथ 'केवल चमत्कार और शब्दकौशल दिखलाने के लिये रचा गया है, न कि हृदय की

सच्ची प्रेरणा से।' उपर्युक्त तीन ग्रंथों के सिवा इन्होंने चार और पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'विज्ञानगीता' मुख्य है। केशवदास की कविता के संबंध में यह कहावत प्रचलित है कि "कवि को देन न चहै बिदाई। पूछै केशव की कविताई॥" केशव बड़े रसिक जीव थे। अपनी वृद्धावस्था में एक बार जब ये कुएँ पर बैठे हुए थे, स्त्रियों ने इनको 'बाबा' शब्द से संबोधन किया; इस पर इन्होंने पश्चात्तापपूर्वक यह दोहा कहा था—"केशव केसनि अस करी, अरिहूँ जस न कराहिं। चंद्रबदनि मृग-लोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥" यद्यपि केशवदास की वाणी में सूरदास और तुलसीदास की सरसता एवं तन्मयता का अभाव है, तब भी शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य-मीमांसा का मार्ग प्रशस्त करने के लिये हिंदी-साहित्य पर इनका ऋण बना रहेगा। इनका मृत्यु-काल वि० सं० १६७४ के आस-पास है।

(६) गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' का जन्म उन्नाव ज़िले के 'हड़हा' क़स्बे में सं० १९४० में हुआ। ये जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। ये उर्दू और हिंदी दोनों भाषाओं में अच्छी कविताएँ करते हैं। इनकी रचनाएँ सरस तथा भावपूर्ण होती हैं। इनकी कविताओं में करुण रस की प्रधानता रहती है। इनकी भाषा शुद्ध, परिमार्जित और सरल होती है। सनेहीजी इस समय खड़ी बोली के उच्चश्रेणी के कवियों में गिने जाते हैं; पर इनकी ब्रजभाषा की कविता भी बहुत मनोहर

होती है। ये तत्काल रचना करने में बड़े सिद्धहस्त हैं। पहले ये उन्नाव ट्रेनिंग स्कूल में हैडमास्टर थे। प्रेम-पचीसी, कुसुमांजलि, कृषक-क्रंदन, मानस-तरंग, करुण-भारती आदि इनके मुख्य ग्रंथ हैं।

(७) ठाकुर गुरुभक्तसिंह का जन्म जमानिया जिला ग़ाज़ीपुर में सं० १९५० में हुआ। प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० एल-एल बी० की परीक्षा पास करके कुछ दिनों तक ये बलिया में वकालत करते रहे। इनकी बचपन से ही कविता की ओर रुचि है। इनका उपनाम 'भक्त' है। पहले इन्होंने उर्दू में कुछ कविताएँ रची थीं, पर बाद में हिंदी की ओर अधिक झुकाव हो गया। आजकल ये ग़ाज़ीपुर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सेक्रेटरी हैं। इनकी कविता सुंदर और भावमयी होती है। ये प्राकृतिक सौंदर्य के वर्णन में दक्ष हैं। सरस-सुमन, कुसुम-कुंज, वंशी-ध्वनि, नूरजहाँ आदि इनके मुख्य ग्रंथ हैं।

(८) ठाकुर गोपालशरणसिंह का जन्म वि० सं० १९४८ में हुआ। आप सेंगर-वंशी क्षत्रिय और रीवाँ राज्य (मध्यभारत) में (नई गढ़ी के) प्रथम श्रेणी के सरदार हैं। आपकी स्कूली शिक्षा मैट्रिक तक हुई। तत्पश्चात् आपने स्वाध्याय से ही ज्ञान-वर्द्धन किया है। बचपन से ही आपको कविता-प्रेम रहा है। बीस वर्ष की आयु में आपकी काव्य-रचना का आरंभ हुआ। पहले आप ब्रजभाषा में लिखते थे, पर

पीछे से खड़ी बोली में कविता करने लगे। आपकी कविताएँ प्रायः सरस्वती में छपती रही हैं। आपकी स्फुट कविताओं का एक सुंदर संग्रह 'माधवी' नाम से प्रकाशित हुआ है; इसी से इस पुस्तक की कविताएँ ली गई हैं। ठाकुर साहब की एक विशेषता यह है कि आप पुराने कवियों के जैसे भावों को खड़ी बोली के साँचे में ढालकर उन्हें कहीं सुंदर बना देते हैं। आपकी कविता सरल, मनोहर, प्रवाहमयी और प्रसादगुण-संपन्न होती है। खड़ी बोली में घनाक्षरी-रचना में आप सफल हुए हैं।

(९) गोरेलाल पुरोहित उपनाम 'लाल' कवि का जन्म सं० १७१४ के लगभग माना जाता है। ये पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल के आश्रित थे। मऊ के रहने वाले थे। बुंदेलखंड में प्रसिद्ध है कि ये महाराज छत्रसाल के साथ किसी लड़ाई में गए थे और वहीं लड़कर मारे गए। इन्होंने दोहा चौपाइयों में महाराज छत्रसाल की जीवनी बड़ी उत्तमता से लिखी है। इनकी लिखी तीन पुस्तकें कही जाती हैं— (१) छत्रप्रकाश (२) बरवै और (३) राजविनोद।

(१०) जयशंकर 'प्रसाद'—देखिए हिंदी प्रवेशिका गद्यावली।

(११) गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म वि० सं० १५५४ में बांदा ज़िले के राजापुर गाँव में सरयूपारीण ब्राह्मण-

कुल में हुआ था। कोई कोई इनका जन्म सं० १५८३ मानते हैं। इनका पहला नाम रामबोला और इनके माता पिता का नाम क्रमशः हुलसी और आत्माराम था। जन्म के पश्चात् इनकी माता का देहांत हो गया और पिता ने इन्हें छोड़ दिया। कुछ समय तक एक दासी ने इन्हें पाला; फिर नरहरिदास (अथवा नरहर्यानंद) नामक महात्मा ने इन्हें अपने यहाँ रखकर इनके सब संस्कार किए और इनका नाम तुलसीदास रक्खा। इनसे गोस्वामीजी ने कई बार रामायण की कथा सुनी। फिर काशी में शेषसनातन नामक विद्वान् से इन्होंने विद्याध्ययन किया। तत्पश्चात् इनका विवाह हुआ। कहते हैं कि गोस्वामीजी अपनी स्त्री में अत्यंत अनुरक्त थे; अतः इनकी अनुपस्थिति में एक बार उसके मायके चले जाने पर आप भी उसके पीछे-पीछे अपनी ससुराल को दौड़ गए। इस पर इनकी स्त्री ने इन्हें बहुत फटकारकर कहा कि मुझ में आपकी जितनी प्रीति है उतनी भगवान् श्रीराम में होती, तो आप भव-बंधन से मुक्त हो जाते। यह बात गोसाईंजी को चुभ गई और ये काशी आकर विरक्त हो गए। फिर लगभग बीस वर्ष तक इन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया और चित्रकूट, अयोध्या, काशी आदि में रहते हुए वि० सं० १६८० में काशीपुरी में इनका स्वर्गवास हुआ।

गोस्वामीजी हिंदी के सब से बड़े कवि माने जाते हैं।

वस्तुतः तुलसीदासजी के नाम से अपरिचित होना हिंदी-साहित्य से अनभिज्ञ रहने के समान है। जिस प्रकार सूरदासजी कृष्ण के परम भक्त थे, उसी प्रकार गोस्वामीजी राम के अनन्य उपासक थे। गोस्वामीजी का 'रामचरितमानस' अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है। श्रीमद्भगवद्गीता के सिवा सारे भारतीय साहित्य में संभवतः ऐसा कोई ग्रंथ नहीं है जिसका 'रामचरितमानस' की तरह प्रचार हुआ हो। पढ़े-लिखे या अपढ़, सभी को हिंदू-जाति के इस आदर्श धर्म-ग्रंथ की दोहा-चौपाइयाँ कंठ रहती हैं और कहावतों तथा धर्मवाक्यों की तरह उनका प्रयोग होता है। 'रामचरितमानस' में गोस्वामीजी ने सरल और मधुर अवधी भाषा की उत्कृष्ट कविता में श्रीराम का आदर्श चरित्र अंकित करके जातीय-जीवन में नवजीवन का संचार किया और मानव-जाति के उच्च आदर्शों की स्थापना की। मनुष्य-जीवन की ऐसी कोई परिस्थिति नहीं है जिसका चित्रण इस ग्रंथ-रत्न में न हुआ हो। गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों में विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली, कृष्णगीतावली, दोहावली, बरवै रामायण और तुलसी सतसई मुख्य हैं। तुलसीदासजी की कविता व्रजभाषा और अवधी दोनों में हुई है और इनकी भाषा सरल, सुंदर तथा व्यवस्थित है।

(१२) बाबा दीनदयाल गिरि काशी के पश्चिम द्वार पर विनायकदेव के पास रहते थे। इन्होंने सं० १८८८ में

'अनुराग बाग' नामक ग्रंथ की रचना की। इनके जन्म-मरण, माता-पिता आदि का कुछ वृत्तांत ज्ञात नहीं है । नागरी प्रचारिणी ग्रंथमाला में इनकी ग्रंथावली प्रकाशित हुई है जिसमें इनके बनाये तीन ग्रंथ हैं:—(१) अनुराग-बाग (२) दृष्टांत-तरंगिणी और (३) अन्योक्ति-कल्पद्रुम । ये अच्छे कवि थे। इनकी कविता भक्ति और उपदेश से पूर्ण है ।

(१३) नरोत्तमदास सं० १६०२ में वर्त्तमान थे। ये सीतापुर ज़िले के बाड़ी नामक क़स्बे के निवासी थे। मिश्र बंधुओं का अनुमान है कि ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका 'सुदामाचरित्र' बहुत सरस और हृदयग्राही है। इसका वर्णन बिल्कुल याथातथ्य है और इसी कारण अत्यन्त प्रभावशाली है। भाषा भी बहुत शुद्ध है।

(१४) पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा का जन्म वि० सं० १६१६ में अलीगढ़ ज़िले के हरदुआगंज क़स्बे में हुआ था। तेरह वर्ष की आयु में आपने काव्य-रचना का आरंभ किया था। आपका हिंदी के पुराने कवियों में स्थान है । पहले शंकरजी ब्रजभाषा में बड़ी सुंदर और गठी हुई काव्य-रचना करते थे। पीछे से आप खड़ी बोली में लिखने लगे। आप आर्यसमाज के अंध-विश्वासी और सामाजिक कुरीतियों के उग्र विरोधी थे। आपकी रचनाओं में इस अंतर्वृत्ति का स्पष्ट आभास देख पड़ता है। फबतियाँ और फटकार इनके पद्यों

की एक विशेषता है। वर्णवृत्त की भाँति मात्रिक और मुक्तक छंदों में भी वर्णों की समान संख्या रख आपने काव्य-संबंधी एक बड़े नियम को निबाहा है। इनकी कविता में अनुप्रास, भाव-गांभीर्य और शब्द-लालित्य यथेष्ठ है। 'शंकरसरोज', 'अनुरागरत्न' और 'वायसविजय' आपके मुख्य ग्रंथ हैं।

(१५) बाबू बालमुकुंद गुप्त अग्रवाल वैश्य थे। इनका जन्म संवत् १९२२ की कार्तिक शुक्ला ४ को रोहतक जिले के गुरियानी गांव में हुआ था। सब से पहले ये सं० १९४४ में जनता के सामने चुनार से निकलने वाले उर्दू 'अखबारे चुनार' के संपादक के रूप में आए। संवत् १९४५ में लाहौर क 'कोहेनूर' के संपादक हुए। इन्हीं दिनों हिंदी का आंदोलन चला। हिंदी सीखकर ये कालाकांकर के हिंदी दैनिक 'हिंदोस्थान' में चले आए। शीघ्र ही ये 'बंगवासी' के सहायक संपादक नियुक्त हुए और ५ वर्ष तक उसी पद पर रहे। सं० १९५४ में 'भारतमित्र' के संपादक हुए और मृत्युपर्यंत उसी पद पर रहे। ये बड़े हास्यप्रिय और देशानुरागी व्यक्ति थे। देश की दशा का भी ये पूरा ज्ञान रखते थे। इनके शिवशंभु के चिट्ठे से ये बातें अच्छी तरह प्रगट होती हैं। इनकी आलोचना बड़ी तीव्र होती थी। शिवशंभु के चिट्ठे के अतिरिक्त हरिदास, मडेल भगिनी, रत्नावली नाटिका आदि कई पुस्तकों की इन्होंने रचना और अनुवाद किया है।

(१६) विहारीलाल का जन्म ग्वालियर के पास वसुआ गोविंदपुर गाँव में संवत् १६६० के लगभग माना जाता है। वचपन में ये बुंदेलखंड में रहे और जवानी में अपनी ससुराल, मथुरा में। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसाह (महाराज जयसिंह) के आश्रय में रहते थे। इन्हीं के कहने पर इन्होंने ये सातसौ के लगभग दोहे रचे जो इनकी सतसई में संगृहीत हैं। बिहारी सतसई इतना गंभीर ग्रंथ बना कि इस पर दर्जनों टीकाएं हो चुकी हैं और नई नई होती जा रही हैं। इनकी मृत्यु सं० १७२० के आस-पास मानी जाती है।

(१७) वैताल कवि का जन्म सं० १७३४ में हुआ। ये विक्रमशाह के दरवार में रहते थे। इन्होंने अपने पद्य प्रायः विक्रम को संवोधन करके वनाए हैं। ये नीति-विषयक वड़ी अच्छी कविता करते थे। इनका रचा हुआ कोई ग्रंथ नहीं मिलता। केवल थोड़े से स्फुट छंद मिलते हैं, उनमें से कुछ छंदों को इस ग्रंथ में दिया गया है।

(१८) पं० मन्नन द्विवेदी वी० ए० का जन्म गोरखपुर ज़िले के गजपुर गाँव में सं० १९४२ वि० में हुआ था। सं० १९६५ में गवर्नमेंट कालेज वनारस से इन्होंने वी० ए० परीक्षा पास की। जव ये छठी श्रेणी में थे, तभी से पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखने लग गए थे। ये वहुत अच्छे लेखक और

कवि थे। इनकी भाषा बहुत सजीव और ओजस्विनी होती थी। ये सरकारी नौकर थे और अंत समय तक तहसीलदार थे। इन्होंने बंधु-विनय, धनुषभंग, रणजीतसिंह का जीवन-चरित्र, आर्यललना, मुसलमानी राज्य का इतिहास (दो भाग), रामलाल (उपन्यास), भारतवर्ष के प्रसिद्ध पुरुष, गोरखपुर विभाग के क्षत्रे आदि ग्रंथ लिखे हैं। ये अल्पायु में ही सं० १९७८ में परलोक सिधार गये।

(१९) मलिक मुहम्मद जायसी प्रसिद्ध सूफ़ी फकीर शेख मोहिउद्दीन के शिष्य थे। जायस में रहने के कारण ये जायसी कहलाते हैं। ये एक आँख के काने और एक कान के बहरे थे। इन्होंने सं० १५९७ के लगभग शेरशाह के समय में अपना प्रसिद्ध 'पद्मावत' रचा। वेदांत के मत का विवेचन करते हुए इन्होंने एक ग्रंथ 'अखरावट' भी लिखा है।

(२०) पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—देखिये हिंदी प्रवेशिका गद्यावली।

(२१) पंडित माखनलाल चतुर्वेदी—देखिये हिंदी प्रवेशिका गद्यावली।

(२२) मीराँबाई जोधपुर राज्य के संस्थापक राठोड़ जोधाजी की प्रपौत्री और मेवाड़ के महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज की धर्मपत्नी थीं। मेड़ता जागीर (जोधपुर राज्य) के चौकड़ी गाँव में वि० सं० १५५५ के आस-पास

इनका जन्म हुआ था। बचपन से ही मीराँबाई में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति थी। युवावस्था में ही विधवा हो जाने पर वे अपना सारा समय साधु-महात्माओं के सत्संग और श्रीकृष्ण-भक्ति में, जो इनके पितृकुल में पीढ़ियों से चली आती थी, बिताने लगीं। मीराँ की इस प्रवृत्ति से उनके देवर और तत्कालीन महाराणा विक्रमादित्य अप्रसन्न होकर इन्हें कई प्रकार से सताने लगे। विषपान कराये जाने पर भी मीराँ का बाल तक बांका न हुआ। फिर तीर्थ-यात्रा के लिये मेवाड़ छोड़कर इन्होंने स्थायीरूप से द्वारकापुरी में निवास किया, जहाँ वि० सं० १६०३ के लगभग इनका मृत्युकाल माना जाता है। मीराँबाई की गणना उच्च-कोटि के भक्त कवियों में होती है और हिंदी की स्त्री-कवयित्रियों में इनका सर्वोच्च स्थान है। मीराँबाई के भावपूर्ण भजनों का, जिनमें हृदय की मर्म-स्पर्शिनी वेदना और भक्त की प्रेममय तल्लीनता की स्रोतस्विनी बहती है, राजस्थान, गुजरात आदि प्रांतों में बहुत प्रचार है। मीराँ की कविता की भाषा राजस्थानी और सुगम व्रजभाषा या इनका मिश्रण है।

(२३) बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म वि० सं० १९४३ में झांसी ज़िले के चिरगाँव क़स्बे में बाबू रामचरण गुप्त (अग्रवाल वैश्य) के यहां हुआ। ये आचार्य महा-वीरप्रसादजी द्विवेदी के शिष्य और अनुयायी हैं। द्विवेदीजी

की भाँति इनकी रचनाओं में भी व्याकरण-संबंधी त्रुटियाँ नहीं रहतीं। द्विवेदीजी के संपादन-काल में इनकी कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होती रहती थीं। इनके 'जयद्रथ-वध' काव्य में खड़ी बोली का अच्छा सौष्ठव देख पड़ता है, किंतु 'भारतभारती' पुस्तक इनकी सर्वप्रिय रचना हुई है। गुप्तजी की कविताएँ देश-प्रेम से ओत-प्रोत हैं, अतः आप इस युग के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। आपके काव्यों ने नवयुवकों में राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ हिंदी-कविता के लिये प्रेम उत्पन्न किया है। आपने खड़ी बोली में उत्कृष्ट कविता रचकर लोगों के इस प्रारंभिक विचार को निर्मूल सिद्ध कर दिया कि कविता के लिये खड़ी बोली उपयुक्त नहीं हो सकती। हिंदी काव्य-जगत् में आपका नाम जितना प्रसिद्ध हुआ, उतना संभवतः और किसी कवि का नहीं। 'साकेत' महाकाव्य आपकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। साहित्य-सेवा ही आपके जीवन का व्यवसाय है। भारतभारती, जयद्रथ-वध, साकेत, यशोधरा, शकुंतला, पद्यप्रबंध, झंकार, त्रिपथगा, विरहिणी व्रजांगना, द्वापर, तिलोत्तमा आदि आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

(२४) राधाकृष्णदास—देखिये हिंदी प्रवेशिका गद्यावली।

(२५) पं० रामचंद्र शुक्ल—देखिये हिंदी प्रवेशिका गद्यावली।

(२६) पं० रूपनारायण पांडेय का जन्म लखनऊ में सं० १९४१ वि० में हुआ। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। जब ये एक ही वर्ष के थे, तब इनके पिता पं० शिवराम पांडेय का देहांत हो गया। तब इनके पितामह ने इनका पालन किया। प्रथमा परीक्षा पास करके मध्यमा में पढ़ रहे थे कि पितामह का भी देहांत हो गया। तब इन्हें गृहस्थी चलाने के लिये नौकरी का आश्रय लेना पड़ा। इन्होंने स्कूल में विद्याध्ययन कम किया था। जो कुछ इन्होंने योग्यता प्राप्त की, वह इनके निज परिश्रम का फल है। इन्होंने 'वर्ण-परिचय' देखकर एक सप्ताह में बँगला भाषा सीख ली। इन्हें संस्कृत, हिंदी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, बँगला, उर्दू आदि कई भाषाओं की अच्छी योग्यता है। इन्हें बचपन से ही साहित्य की धुन है। १५ वर्ष की अवस्था से ही इन्होंने कुछ-कुछ लिखना शुरू कर दिया। इस समय तक इनके द्वारा रचित और अनुवादित ग्रंथ ६०—७० से अधिक होंगे। कुछ वर्ष भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं का संपादन भी करते रहे हैं। इन्होंने बँगला के उपन्यासों के सरस तथा सुंदर अनुवाद करने में परम यश पाया है। इनकी कविताओं का संग्रह 'पराग' नाम से छपा है। इनके अनुवादित ग्रंथों में श्रीमद्भागवत, आँख की किरकिरी, चौबे का चिट्ठा, दुर्गादास, शाहजहाँ, नूरजहाँ, सीता, बंकिम-निबंधावली, ताराबाई, राजारानी,

गल्पगुच्छ, महाभारत, हरीसिंह नलवइ, कृष्णकुमारी, बहता हुआ फूल आदि मुख्य हैं।

(२७) पंडित रामचरित उपाध्याय का जन्म कार्तिक कृष्णा ४ सं० १९२९ को गाज़ीपुर में हुआ था। आपके पिता पं० रामप्रपन्नजी एक विद्वान् ब्राह्मण थे। इनके पिता ने ही इन्हें प्रारंभिक शिक्षा दी और व्याकरण का बोध कराया। सं० १९४४ में पिता की मृत्यु के बाद ये सकुटुंब महाराजपुर (आज़मगढ़) में चले गए, जो इनके पूर्वजों की जन्मभूमि थी। महाराजपुर में और बरेली में अपने भाई पं० महादेवप्रसाद शास्त्री के पास संस्कृत पढ़ी। सं० १९४७ में आप काशी आए और महामहोपाध्याय पं० शिवकुमारजी शास्त्री के यहाँ विद्याध्ययन करने लगे। विलक्षण बुद्धि होने के कारण शीघ्र ही आपको साहित्य और व्याकरण का अच्छा ज्ञान हो गया। अपने गुरु की आज्ञा से ये इटावा में भटेले हरवंशरायजी के पुत्र को पढ़ाने चले गए। ढाई तीन वर्षों तक पढ़ाने के बाद पुनः आप काशी लौट आए और गणित की मध्यमा परीक्षा तथा आचार्य के दो खंड पास किए। सं० १९६१ में आप अपने घर लौट कर कृषि तथा जमींदारी का कार्य करने लगे। १२ नवंबर सन् १९३८ को आपका देहावसान हुआ। आपके ज़िले में पं० रामचरित त्रिपाठी नाम के एक कवि थे, उन्हीं की देखा-देखी आपने कविता करनी आरंभ की। पहले

होली, कजली, चैती इत्यादि लिखते थे किंतु पीछे से खड़ी बोली की कविता की ओर आपका मन झुका और अच्छी कविता करने लगे। आपका गार्हस्थ्य जीवन बहुत सादा था। आपने गाज़ीपुर में एक संस्कृत पाठशाला और सनातनधर्म सभा की स्थापना की थी तथा एक पुस्तकालय भी खोला था।

(२८) **पं० लोचनप्रसाद पांडेय** का जन्म बालपुर ज़िला बिलासपुर में सं० १६४३ वि० में हुआ। ये संस्कृत, बँगला, उड़िया तथा अंग्रेज़ी के अच्छे ज्ञाता हैं। इन्होंने लगभग ३०–३५ ग्रंथ लिखे हैं। ये केवल कवि तथा लेखक ही नहीं, वरन् प्राचीन इतिहास के अच्छे तत्वान्वेषक भी हैं। ये मध्य-प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हो चुके हैं। मध्य-प्रांत के हिंदी-साहित्य के सेवकों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। ये उड़िया के भी अच्छे विद्वान् और कवि हैं। अंग्रेज़ी में भी इन्होंने कुछ पुस्तकें लिखी हैं। दो मित्र, बालविनोद, नीति-कविता, बालिका-विनोद, माधवमंजरी, मेवाड़गाथा, चरितमाला, रघुवंशसार, पद्यपुष्पांजलि, कविताकुसुममाला आदि इनके लिखे मुख्य ग्रंथ हैं।

(२६) **वियोगीहरि**—देखिए हिंदी प्रवेशिका गद्यावली।

(३०) **पं० श्रीधर पाठक** का जन्म वि० सं० १६१६ में आगरा ज़िले के जोंधरी गाँव के सारस्वत ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इन्होंने घर पर संस्कृत पढ़ी। स्कूल से एंट्रेंस

परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् इन्होंने सरकारी नौकरी कर ली। अपने कार्य में बड़ी तत्परता दिखाने से सरकार में इनकी बहुत प्रशंसा हुई। शनैः-शनैः उन्नति करते हुए ये संयुक्तप्रांतीय सरकार के दफ्तर के सुपरिंटेंडेंट बनाए गए। फिर पेंशन लेकर आप प्रयाग में रहने लगे। पाठकजी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अपनी कविता लिखी है, परंतु इनकी ब्रजभाषा की काव्य-रचना अधिक सरस और मधुर है। ये खड़ी बोली के प्रारंभिक कवियों में थे। इनकी रचनाओं में शुद्ध और काव्योपयोगी शब्दों का बहुत ध्यान रक्खा गया है। वस्तुतः पाठकजी सुघराई की मूर्ति और प्राकृतिक सौंदर्य के बड़े उपासक थे। 'काश्मीर सुखमा', 'देह-रादून' आदि रचनाओं में इनका प्रकृति-प्रेम खूब झलकता है। इनके 'ऊजड़ ग्राम' 'श्रांत पथिक' और 'एकांतवासी योगी,' अंग्रेज-कवि गोल्डस्मिथ के काव्यों के हिंदी अनुवाद हैं। 'भारत गीत' में भारत-संबंधी गीतों का संग्रह है। मनोविनोद में इनकी स्फुट कविताओं का संकलन है। अंग्रेज़ी और संस्कृत दोनों के काव्यों से परिचित होने के कारण इनकी रुचि बहुत परिष्कृत थी। इनके पद्यों में चलती और रसीली भाषा के साथ कोमल एवं मधुर संस्कृत पद-विन्यास देख पड़ता है। पाठकजी अत्यंत भावुक, सुरुचि-संपन्न और प्रतिभाशाली कवि थे। कुछ वर्ष हुए, इनका स्वर्गवास हो गया।

(३१) बाबू सियारामशरण गुप्त का जन्म वि० सं० १९५२ में हुआ। आप कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता के समान ही कवि-हृदय पाया है। अपनी रचनाओं में आपने सामाजिक कुरीतियों पर हृदय में चुभनेवाली चुटकियां ली हैं। इनकी भाषा संस्कृतमय, सरल एवं सुबोध खड़ी बोली है। इनकी कविता करुणरस प्रधान होती है। समय की पुकार को इनकी लेखनी ने जनता तक बड़ी सफलता से पहुँचाया है। अनाथ, मौर्य-विजय, दूर्वादल, विषाद, पाथेय, आर्द्रा आदि इनके उल्लेख-नीय काव्य-ग्रंथ हैं। इधर कुछ समय से आप नाटक, उपन्यास और कहानियाँ भी लिखने लगे हैं, जिनमें पुण्यपर्व, अंतिम आकांक्षा, गोद और मानुषी मुख्य हैं।

(३२) श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म वि० सं० १९६१ में प्रयाग के एक क्षत्रिय कुल में हुआ। इनकी शिक्षा प्रयाग के क्रास्थवेट गर्ल्स हाईस्कूल में हुई। सं० १९७६ में खंडवा के ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान बी० ए०, एल-एल० बी० के साथ इनका विवाह हुआ और तब से उनके साथ जबलपुर में रहती हैं। बाल्यावस्था से ही इन्हें कविता की धुन रही है। इनके पिताजी की कविता और गाने की ओर विशेष रुचि थी। उनके भजनों को सुनकर इनके मन में कविता की लहरें उठा करतीं। आजकल हिंदी

की स्त्री-कवयित्रियों में इनका बहुत ऊँचा स्थान है। बाल्य-जीवन और देश-प्रेम इनकी कविता के मुख्य विषय हैं। इनकी कविता सुबोध, स्वाभाविक और भावमयी होती है। इनकी भाषा सीधी-सादी खड़ी बोली है, जिसमें कहीं कहीं उर्दू शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। सुभद्राजी की सजीव वर्णनशैली से पाठक के सामने एक चित्र-सा खिंच जाता है। इनका सिद्धांत है कि किसी के कहने या दी हुई समस्याओं पर सुंदर कविता नहीं लिखी जाती, किंतु हृदय में भावों के उमड़ने पर ही काव्य-रचना होती है, यही इनके पद्यों के हृदयग्राही होने का रहस्य है। इनका स्वभाव भावुक और बच्चों का-सा सरल है, वही भावुकता और सरलता इनकी रचनाओं में ज्यों-की-त्यों झलकती है। इनकी काव्य-रचना में शब्दाडंबर अथवा कवित्व का शास्त्रीय पांडित्य नहीं देख पड़ता, किंतु इनके स्थान में हृदय से निकली हुई, सीधी और सच्ची बात है, जो पाठक के हृदय में चुभ जाती है। इनके 'बिखरे मोती' नामक कहानी संग्रह और 'मुकुल' शीर्षक कविता संग्रह दोनों पर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने भिन्न भिन्न अवसरों पर सर्वश्रेष्ठ महिला लेखिका को दिया जाने वाला ५००) रु० का सेकसरिया पारितोषिक प्रदान किया है।

(३२) पंडित सुमित्रानंदन पंत पहाड़ी ब्राह्मण हैं। इनका जन्म वि० सं० १९५८ में अल्मोड़े में हुआ।

इनके पिता अत्यंत धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। पिता में जो सहृदय-भावना धर्मनिष्ठा के रूप में विद्यमान थी वही पुत्र में कवित्वरूप में प्रकट हुई। पंतजी ने एफ० ए० तक शिक्षा पाई, पर कॉलेज की अप्राकृतिक शिक्षा रुचिकर न होने से उसके बंधन से मुक्त होकर आपने प्रकृति की गोद को ही अपना शिक्षणालय बनाया। कविता-क्षेत्र में आपने नए ढंग का पौधा लगाया है, इसी से आप हिंदी कविता के नवीन-युग-प्रवर्तक माने जाते हैं। आपकी अपनी स्वतंत्र शैली है, जिसमें भाषा-सौष्ठव, प्रवाह और मधुरता देख पड़ती है। इनकी भाषा संस्कृतमय खड़ी बोली है। अंग्रेज़ी-साहित्य के अनुशीलन के फल-स्वरूप आपकी रचनाओं में अंग्रेज़ी भावों का रहना स्वाभाविक है, पर वे धीरे-धीरे हिंदी के अनुरूप होते जाते हैं। आपके ग्रंथों में उछ्वास, वीणा, पल्लव, ग्रंथि-गुंजन, ज्योत्स्ना आदि उल्लेखनीय हैं।

(३४) **पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'** के पिता पं० रामसहाय त्रिपाठी बंगाल की महिषादल रियासत में नौकर थे। वहीं मेदिनीपुर में सं० १९५५ में इनका जन्म हुआ। इन्होंने मैट्रिक तक स्कूली शिक्षा पाई है। बँगला-साहित्य से इनका खूब परिचय है। पहले ये बँगला में कविता किया करते थे, बाद को इनका झुकाव हिंदी की ओर हो गया।

कुछ समय से ये एक निराले ही छंद में कविता करते हैं जिसको सामान्य पिंगल के नियमों से पुराने विद्वान् छंद ही मानने को तैयार नहीं हैं, यद्यपि उसमें भी गति होती है। परंतु उस गति के नियमों का ज्ञान अभी शायद ही उनके अतिरिक्त और किसी को हो। इनकी फुटकर कविताओं के संग्रह 'अनामिका' 'परिमल' और 'गीतिका' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। इनके गद्य-प्रबंधों का संग्रह 'प्रबंधपद्म' और रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं की समालोचना 'रवींद्र-कविता-कानन' के नाम से प्रकाशित हुई है। इनका 'अप्सरा' नामक उपन्यास एक अच्छी चीज़ है।

(३५) महात्मा सूरदास का जन्म विक्रम संवत् १५४० के लगभग आगरा और मथुरा के मार्ग में रुनकता गाँव के एक सारस्वत ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनके छः भाई मुसलमानों के साथ युद्ध में मारे गए। केवल यही शेष रह गए। नेत्रहीन होने के कारण ये युद्ध में नहीं जा सके थे, इसालिये ये इधर-उधर घूमते रहे। एक बार आप कुएँ में गिर पड़े और वहीं छः दिन तक पड़े रहे। अंत में दीनदयालु भगवान् ने कृष्ण-रूप में प्रकट होकर, इन्हें दृष्टि-प्रदान कर अपने रूप का दर्शन कराया और कुएँ से बाहर निकाला। सूरदासजी ने वर माँगा कि जिन नेत्रों से मैंने भगवान् का रूप देखा, उनसे और कोई वस्तु न देखूँ और हृदय में सदा

आपका ध्यान बना रहे। इसी से सूरदासजी फिर प्रज्ञाचक्षु हो गए और अपने प्रभु की लीलाभूमि व्रज में निवास करने लगे। सूर उच्च-कोटि के भक्त कवि हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि आपने सवा लाख पदों की रचना की थी, पर अब तक ५-६ हज़ार पद मिले हैं, जिनका संग्रह 'सूरसागर' में हुआ है। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी ने सूरदासजी को ८ श्रेष्ठ कृष्ण-भक्त कवियों में, जो अष्टछाप में गिने जाते हैं, सर्व-प्रथम स्थान दिया है। सूरदासजी की कविता का मुख्य विषय है—श्री कृष्णलीला, जिसमें बाललीला, राधाकृष्ण-प्रेम और गोपी-विरह आदि का सविस्तर और सुंदर वर्णन है। आपकी कविता स्वाभाविकता और सरसता से ओत-प्रोत है। जिस तरह कबीर के काव्य में ज्ञान की प्रधानता है, उसी तरह सूरदास में भक्ति की पराकाष्ठा देख पड़ती है। सूरदासजी व्रजभाषा के तथा वात्सल्य-रस और विप्रलंभ शृंगार के सर्व-श्रेष्ठ कवि हैं, इसीसे 'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास' यह लोकोक्ति अब तक प्रचलित है। इनका स्वर्ग-वास वि० सं० १६२० में हुआ।

(३६) भारतेंदु हरिश्चंद्र—देखिए हिंदी प्रवेशिका गद्यावली।